श्रीमद् राजचंद्र जन्मशताब्दी ग्रंथमाला
प्रकाशन-छठा

श्रीमद् राजचन्द्र

—वचनामृत—

कर विचार तो पाम

हिंदी-संस्करण

भाग १, २

" हममें मान न होता तो यहीं ही मोक्ष होता।"

प्रकाशक :

त्रिकमलाल महासुखराम शाह–प्रमुख,
श्रीमद् राजचंद्र जन्मशताब्दी मंडल;
श्री राजचंद्र पाठशाला, पंचभाईकी पोल,
अमदावाद–१

देहधारीके विटंबना तो एक धर्म है,
उसमें खेद करके आत्माका विस्मरण क्यों करें?

श्रीमद् राजचंद्र

मूल्य :– ०–६० पै.

मुद्रक :
युनिटी प्रिन्टर्स,
हर्षद म. देसाई
दरबार गोपालदास रोड, वडोदरा.

सं. २०२३
प्रत ५०००
प्रथमावृत्ति

श्रीमद् राजचंद्र हस्ताक्षर

શુદ્ધ બુદ્ધ ચૈતન્યઘન, સ્વયંજ્યોતિ સુખધામ;
બીજું કહીએ કેટલું. કર વિચાર તો પામ.

शुद्ध, बुद्ध, चैतन्यघन,
स्वयंज्योति सुखधाम;
और कहूँ मैं कितना ?
कर विचार तो पाम ॥

आत्मसिद्धिशास्त्र गा. ११७

આત્મભાવના ભાવતાં
જીવ લહે કેવળજ્ઞાન રે

आत्मभावकी भावना करते करते
जीव केवलज्ञान प्राप्त करता है।
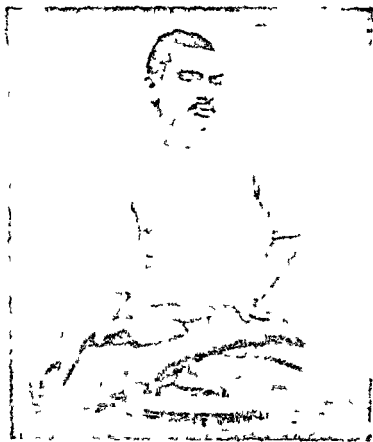
श्रीमद् राजचंद्र

श्रीमद् राजचंद्र जन्मशताब्दी मंडल

गांधीजीके सहजज्ञान वैराग्यमूर्ति श्रीमद् राजचन्द्रजीकी जन्मशताब्दी विक्रम संवत् २०२४ के कार्तिक सुदी १५ के दिन आ रही है उसके उपलक्ष्यमें उस पुण्यनाम पुरुषके उपकारकी यत्किंचित् पुनित स्मृतिके लिए इस 'श्रीमद् राजचंद्र जन्मशताब्दी मंडल'की स्थापना हुई है।

श्रीमद् राजचन्द्रका जगत्-हितकारी परम कल्याणमय साहित्य, उनके जीवनके प्रसंग इत्यादि विविध भाषाओंमें प्रकाशित करेंगे और विशाल जनसमुदाय इसका लाभ पा सके इस तरह उसका प्रचार करेंगे। इसका उद्देश्य रखा है।

यह एक्टके अनुसार 'ट्रस्ट' रजिस्टर्ड हो चुकी है। नियमानुसार व्यवस्थाके लिए ग्यारह सदस्योंकी एक 'व्यवस्थापक समिति' और मार्गदर्शनके लिए पाँच सदस्योंकी एक सलाहकार समिति काम कर रही है।

उद्देश्यके अनुसार शुरू किये हुए प्रकाशन कार्यकी यह 'कर विचार तो पाम' हिंदी–संस्करण छठा पुस्तक है। अन्य पुस्तकोंका काम भी चालू है।

विशेष आनंद तो यह है कि श्रीमद् के प्रति भक्ति रखनेवाला विशाल समुदाय और श्रीमद्‌की स्मृतिमें स्थापित अनेक संस्थाएँ इस कार्यमें उल्लासपूर्वक सहयोग दे रही है और यही इस मंडलकी सार्थकता है।

श्रीमद्‌के प्रति श्रद्धाभक्तिवाले सभी भाईबहनोंसे इस कार्यमें सहयोग देनेकी नम्र प्रार्थना है।

श्रीमद् राजचन्द्र पाठशाला,	श्रीमद् राजचंद्र जन्मशताब्दी मंडल
पंचभाईकी पोळ,	कारोबारी समिति,
अहमदाबाद.	त्रिकमलाल महासुखराम शाह, प्रमुख.

श्री विनोबाजीका पत्र—

विनोबा-निवास
जमशेदपुर
३०-१-६६

श्री सौभाग्यभाई,

श्रीमद् राजचंद्र जन्मशताब्दी प्रकाशन समितिकी तरफसे "कर विचार तो पाम" और "राजपद" ये दो किताबें आपने प्रेमपूर्वक भेजी उसके लिए मैं आपका आभारी हूँ। "राजपद" में से दो पद "बहु पुण्य केरा पुंजथी" और "अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे"—ये तो मुझे कण्ठस्थ ही थे।

श्री राजचंद्र जो भी लिखते थे, स्वानुभवकी कसौटी पर कस कर लिखते थे। उनकी प्रतिभा पारमार्थिक विषयोंमें अकुंठित थी। और जैसा कि उन्होंने दावा किया है, वे सर्वथा पक्षपात रहित थे। उनके समग्र लेखनका एक बृहद् ग्रंथमें संग्रह किया हुआ मुझे पढ़नेको मिला था, जिसमें वर्ष क्रमानुसार सारा लेखन पेश किया था। उसीमेंसे "कर विचार तो पाम" ये अमृतवचन दोहन किये हुए हैं। मुझे उससे बहुत तृप्ति हुई। यह किताब गुजराती पढ़नेवाले हरेक साधकके हाथमें पहुंचनी चाहिए। और इसका तरजुमा अन्य भाषाओंमें भी होना चाहिये।

विनोबाका जय जगत्

हिंदी-संस्करण

जगत आत्मारूप माना जाय:

जो जो बने, उसे योग्य माना जाय;

पराये दोष न देखे जायँ;

अपने गुणोंकी उत्कृष्टता सहन की जाय;

—तभी इस संसारमें रहना उचित है;

अन्यथा नहीं।

श्रीमद् राजचंद्र—

"निःसंदेह ज्ञानावतार है और व्यवहारमें रहते हुए भी वीतराग हैं" ऐसे श्रीमद् राजचंद्ररचित साहित्यमेंसे चुने हुए इन विचार-रत्नोंका इस हिन्दी संस्करण प्रकट करते हुए आनंद होता है।

हरएक मनुष्य इस संसारमें दुःखी है। वह जन्म, मरण तथा रोग, चिंता, व्याकुलता आदि दुःख बारम्बार

पात्र रहता है, इसमेंसे बचानेवाला मात्र आत्मज्ञान ही है। यह आत्मज्ञान जीव तभी प्राप्त करता है जब वह आत्मत्व प्राप्त पुरुषके सत्समागममें और उनके उपदेशानुसार, उन्होंने स्वानुभवसिद्ध जो मार्ग प्रकाशित किया है उसकी आराधना करता है, यह महात्माओंका प्रकट निश्चय है।

श्रीमद् राजचन्द्रके अनन्य उपासक तथा उनके साहित्यके यथातथ्य अनुभवी श्री लघुराज स्वामीके परिचयमें बरसों रहकर श्रीमद्जीके साहित्यकी उपासना करनेवाले श्री गुणभद्रजी पंडितने यह अनुवाद तैयार किया है। पंडितजीकी मातृभाषा हिन्दी है और उनका जैन साहित्यका अध्ययन भी अच्छा है इस सुमेलसे अनुवादको मूलके अनुरूप करनेका भरसक प्रयत्न किया गया है, और नडियादके निवासी श्री नारणभाई पटेलने इस अनुवादको आधुनिक हिन्दी भाषाका स्पर्श देकर इसे ओजस्वी और प्रेरणात्मक बनानेका प्रयत्न किया है।

श्रीमद्जीका साहित्य अन्तरात्मलक्षी, गम्भीर और

तलस्पर्शी होनेसे उसका अनुवाद यथाशक्य तथ्य करनेका प्रयत्न किया गया है फिर भी इसमें रहा हुई त्रुटिको बतानेका वाचकगणसे अनुरोध करता हूँ।

"केवल आत्मस्थिति है जिसकी ऐसे सत्पुरुषसे ही आत्मा या आत्मधर्म श्रवण करने योग्य है, यावत् आराधने योग्य है।" श्रीमद्का यह वचनामृत नित्य स्मरणमें रहकर और मार्गदर्शक बनकर हमारी साधनाको विशुद्ध करो।

ता. १४-९-६७.
दांडिया बाजार,
वड़ोदा।

श्रीमद् राजचन्द्र शताब्दी मंडल,
प्रकाशन समिति,
शोभागचंद चुनीलाल शाह, अध्यक्ष.

गुजराती द्वितीय संस्करणका प्रास्ताविक

जिस विचारसे उपशमगुण प्रकटित न हुआ,
विवेक प्राप्त न हुआ, समाधि न हुई,
उस विचारमें भले जीवको आग्रह रखना योग्य नहीं है।

श्रीमद् राजचंद्र

कुछ ही मासमें प्रथम संस्करणकी २००० कापियाँ पूरी हो जाने से इसका पुनर्मुद्रण आपकी समक्ष रखनेमें मुझे हर्ष होता है।

इस संस्करणमें पवित्रमूर्ति पू. विनोबाजीका पत्र दिया जा रहा है, उनके उद्गार श्रीमद्के शान्तिकी उपासनाके पुरुषार्थमें अति प्रेरक हैं।

श्रीमद्के लेख उनके आंतरआत्मानुभवमेंसे रचित होनेसे, श्रद्धासमृद्ध हृदयभावनासे आचरण होने पर साधकको आत्मविशुद्धिके सुगम परन्तु दुर्गम लगनेवाले मार्गमें प्रस्थान करानेवाले साबित होंगे।

पाठकोंको इन वचनोसे रसास्वाद तो प्राप्त होगा ही परंतु ज्यों ज्यो उनकी गहराईमें उतरेंगे त्यों त्यों इसकी वृद्धि होगा और आत्मानुभवप्रमाण प्रत्यक्ष होने पर तद्रूप करेंगे।

इस साहित्यके साधकोंका अनुभव यह है कि इसका अध्ययन ज्यों ज्यों बढ़ता जाता है त्यों त्यों वह नित्य नूतन प्रेरणाका प्रेरक बनता जाता है।

अमृतवचनोंका यह दोहन श्रीमद्‌के साहित्यके अध्ययनमें अधिकाधिक प्रेरक बने यही अभ्यर्थना।

दांडिया बाजार, श्रीमद् राजचंद्र जन्मशताब्दी मंडल,
वड़ौडा–१ प्रकाशन समिति,
ता. १५–१०–१९६६ शोभागचंद चुनीलाल शाह, अध्यक्ष.

प्रस्तावना

प्रथम आवृत्ति

शुद्ध अन्तःकरणके बिना
 कौन मेरे कथनका न्याय करेगा?

जिसे निरन्तर आत्माका उपयोग है, जिसका कथन अनुभवमें आता है, अन्तरंग में कोई स्पृहा नहीं है ऐसी जिसकी गुप्त आचरणा है ऐसे सन्तमूर्ति श्रीमद् राजचन्द्रके आत्मस्पर्शी विचारोंसे समृद्ध विपुल साहित्यमें से विविध विषयोंको स्पर्श करनेवाले कितने ही वचनोंको छाँटकर इस पुस्तक में यथास्थान दिया गया है।

सामान्य प्रकारसे प्रत्येक वचन एक सम्पूर्ण विचारकी प्रेरणा करे, ऐसा लक्ष्य रखा गया है। किसी भी पृष्ठ के खोलने पर उस पृष्ठ परके किसी भी एक वचनको पढ़कर यदि हम शान्तिसे विचार करेंगे तो श्रीमद्के अंतरंगमें ओतप्रोत आत्मानुभवकी ज्योतिका दिव्य प्रकाश

हम लोगोंके अन्तरंगको प्रकाशित करेगा और अज्ञानजन्य हमारी दुविधाको दूर कर ज्ञानमय निर्मल आत्म-विचारकी ओर ले जायगा।

इस विश्वके अनेक दुःखोंको देखकर महापुरुषोंके हृदय निष्कारण करुणासे द्रवित हुए हैं। यह करुणा हम जैसे दुखियोंका दुःख दूर करनेमें परम समर्थ कारण है। इस जगतके परिचयमे ज्ञात-अज्ञात भावसे जिन विचारोंकी परंपरामें हम भटकते हैं और जगतके पदार्थ, प्रसग और परिचयोंका हम जो मूल्य आंकते हैं, उससे मात्र दुःखकी ही वृद्धि हुई है-होती है भविष्यमें भी होगी।

राग, द्वेष और अज्ञानकी निवृत्तिसे प्रगटित आत्मिक सुखसे निरन्तर सुखी महापुरुषोंकी दृष्टि में इस जगतके पदार्थोंका जो मूल्याकन है, वही सत्य सुखका हेतु है, यह बात समझ में आती है, और सच्ची मूल्याकन दृष्टि प्राप्त होती है ऐसी प्रबलता श्रीमद्के वचनोंमें सर्वत्र अनुभव में आयगी।

श्रीमद् कहते हैं कि —

परमानन्दरूप हरिका एक क्षण भी विस्मरण न हो, यह हमारी सब कृति, वृत्ति और लेखका हेतु है।

विचारवानको यह कथन प्रतीतिकर होगा, और इन वचनोंकी विचारश्रेणी परमानन्दरूप हरिका निरंतर स्मरण कराकर परमानन्दमय करेगी।

इस पुस्तकका नाम "कर विचार तो पाम" यह श्रीमद्का ही वचन है। अनुपम आत्मसिद्धि शास्त्रकी इनकी कृति में ९७ वें से ११८ वें में मोक्षके उपायकी श्रेणीका वर्णन करते हुए ११७ वें दोहे में कहा है कि "हम जो कुछ कहना था, कह दिया अब तो तू विचारेगा तो प्राप्त करेगा" ऐसा कह कर ११८ वें दोहे में सहज स्वरूपस्थ हो जाते हैं।

इस प्रकार मोक्ष-मार्ग में विचारका ही मुख्य स्थान है। श्रीमद्ने जो विचारका इतना महत्व दिया है, वह

विचार कैसा और क्या इसे जाननेके लिए इनके थोड़ेसे वचनों पर दृष्टिपात करना योग्य है।

१ जिस वांचनसे, समझसे तथा विचारसे आत्मा विभावसे, विभावके कार्योंसे और विभावके परिणामोसे विरक्त न हुआ, विभावका त्यागी न हुआ, विभावके कार्योंका और विभावके फलका त्यागी न हुआ, वह वाचन, वह विचार और वह समझ सब अज्ञान ही है।

विचारवृत्तिके साथ साथ त्यागवृत्ति उत्पन्न करनेवाला विचार ही सफल है। ज्ञानीके कहनेका यह परमार्थ है।

२ आत्मभ्रान्ति सम रोग नहीं, सद्गुरु वैद्य सुजाण,
गुरु आज्ञा सम पथ्य नहीं, औषध विचार ध्यान।

आत्मसिद्धि दो. १२९

आत्माको अपने स्वरूपका भान नही इसके समान दूसरा कोई भी रोग नहीं; सद्गुरुके समान उसका कोई सच्चा अथवा निपुण वैद्य नहीं, सद्गुरुकी आज्ञानुसार चलनेके समान दूसरा कोई पथ्य नहीं, तथा विचार

और निदिध्यासनके समान उसकी दूसरी कोई औषधि नहीं है।

३ ज्यां प्रगटे सुविचारणा, त्यां प्रगटे निजज्ञान,
जे ज्ञाने क्षय मोह थई, पामे पद निर्वाण,
आत्मसिद्धि दो० ८१

जहां सुविचार दशा प्रगट हो, वहां आत्मज्ञान उत्पन्न होता है, और उस ज्ञान से आत्मा मोहका क्षयकर निर्वाणपदको पाता है।

४ एक मात्र जहां आत्म-विचार और आत्मज्ञानका उत्पन्न होता है, वहां समस्त प्रकारकी आशाकी समाधि (शान्ति) होकर जीवके स्वरूप से जिया जाता है।

आत्माकी अनादिकाल अज्ञान-भ्रान्तिमें मुक्त होकर आत्मज्ञानको प्राप्त हो, आत्मभाव में स्थिर हो, ऐसी जो विचारणा है वही सुविचार और करने योग्य है।

"आत्माको ज्ञान प्राप्ति हुई, यह तो निःशंसय है"

इस प्रकारके वचनोंसे जिसने अपनी अन्तरंग दशाका वर्णन किया है और जिनके वचनोंका यह संग्रह है, ऐसे श्रीमद् राजचन्द्रके जीवन और जीवन प्रसंगोंको जानने और समझनेके लिए "जीवनकला" और "जीवनयात्रा" ये दो पुस्तकें उपलब्ध हैं और हालमें "जीवन-साधना" प्रकाशित हो रही है- (भूमिकाके समय 'जीवन-यात्रा' छप रही थी परन्तु अब प्रकाशित हो चुकी है) वह पढ़ने और विचारने योग्य है।

ऐसे आत्मानुभवी पुरुषके वचनोंमे वहते हुए आत्म-लक्षी सुविचार प्रवाह में पावन होकर अनन्त दुःखोंसे मुक्त होनेके लिए इनके मार्गमें भावपूर्वक प्रवृत्ति करें यही प्रार्थना है।

" जहां सर्वोत्कृष्ट शुद्धि वहां सर्वोत्कृष्ट सिद्धि "

दाडिया बाजार,
वडौदा नं. १
१-११-१९६७

श्रीमद् राजचन्द्र जन्मशताब्दी मंडल
प्रकाशन समितिकी ओरसे
शोभागचंद चुनीलाल शाह, प्रमुख.

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	९	मुख	मुग
१४	५	दुख	दु ग
१७	४	पापा	पापी
१९	७	मर्मो	कर्मा
२६	८	रखो	रगो
२८	२	रख, क्या कि	रग, क्योंकि
३३	३	सत्पुरुषकी	सत्पुरुषकी
७०	६	दु ख	दु ग
७१	३	वशिष्ट	वसिष्ठ
७७	१०	निवृत	निवृत्त
७९	११	रखते	रगते
,,	,,	लाकधर्म	लोकधर्म
८८	२	सहन	सहना
,,	१२	दु खको	दु गका
९२	८	लाककी	लोककी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९४	२	लाकिक	लौकिक
१०५	४	जाय	जायँ
११५	१	चरणांमें	चरणोंमें
११९	९	ज्ञाना	ज्ञानी
१३३	३	दीखता	दीखता
१४४	३	उपाजित	उपार्जित
१४५	४–५	ग्रहण हैं	ग्रहण है
१५३	४	लाकदृष्टि	लोकदृष्टि
१७०	२	ज्ञाना	ज्ञानी
१७३	१	मूर्ति	मूर्ति
१७४	१	नहां	नहीं
१७८	१	लाकिक	लौकिक

श्रीमद् राजचन्द्र

—वचनामृत—

कर विचार तो पाम

भाग १

शुद्ध, बुद्ध, चैतन्यघन, स्वयंज्योति सुखधाम,
बीजुं कहीए केटलुं? कर विचार तो पाम

शुद्ध, बुद्ध, चैतन्यघन, स्वयंज्योति सुखधाम,
और कहूँ मैं कितना? कर विचार तो पा॥

अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ?
क्यारे थईशुं बाह्यान्तर निर्ग्रंथ जो ?
सर्व संबंधनुं बंधन तीक्ष्ण छेदीने,
विचरशुं कब महत् पुरुषने पंथ जो
...अपूर्व०

ऐसा अपूर्व (अनोखा) अवसर कब आएगा ?
बाहर और भीतर कब निर्ग्रंथ बनेंगे ?
सब प्रकार के सबंधो के बंधन को सपूर्ण छेद कर,
महापुरुष के मार्ग पर कब चलेंगे ? (विचरेंगे)

तू चाहे किसी धर्म को मानता हो मुझे इसका पक्षपात नहीं।

कहने का तात्पर्य केवल यह है कि

जिस राहसे सक्षारमैल का नाश हो,

उस भक्ति उस धर्म और उस सदाचार को तू सेवन करना।

*

सदाचार पवित्रता का मूल है।

*

जिन्दगी अल्प है, और जंजाल लंबी।

जंजाल को कम कर तो, सुख के रूपमें जिंदगी लम्बी लगेगी।

तू किसी भी व्यापार का करनेवाला हो, परन्तु आजीविका के लिए अन्यायसम्पन्न द्रव्य उपार्जन न करना।

*

वास्तविक सुख केवल विरागमें है। अतः जंजाल-मोहिनीसे आज अभ्यन्तर-मोहिनी न बढ़ाना।

*

यदि सुयोजक कर्म का प्रारंभ करना ही है तो
आज विलंब करने का दिन नहीं है, कारण,
आज के जैसा मंगलकारी दिन और कोई नहीं है।

व्यवहार का नियम रखना और फुरसत के समय में संसार-निवृत्ति खोजना।

*

सत्पुरुष विदुर के कहे अनुसार आज ऐसा कृत्य कर, कि जिससे रातको सुखकी नींद सो सके।

*

कदम कदम पर पाप है,
दृष्टिमें जहर है,
और मौत सिर सवार है,
यह सोच कर आजका दिन आरंभ कर।

यदि आज दहाडे सोनेका दिल हो तो उस समय ईश्वर-भक्ति-परायण बन जाना या सत्शास्त्रका सेवन कर लेना ।

मै समझता हूँ ऐसा होना कठिन है; फिर भी अभ्यास सबका उपाय है ।

*

परपरागत वैर आज निर्मूल किया जाय तो उत्तम; नहीं तो उससे सावधान रहना ।

*

नया वैर भी मोल न लेना कारण यह कि वैर कर के किस काल तक सुख भोगना है ?—ऐसा तत्वज्ञानी सोचते है ।

जिस घरमें आजका दिन बिना क्लेशके, स्वच्छतासे, शुचितासे, सुमेल और सतोषसे, सौम्यतासे, स्नेह, सम्पता और सुखसे बीतेगा, उस घरमें पवित्रताका निवास है।

*

तू भले अपनी आजीविकाभर प्राप्त करता हो, परन्तु वह उपाधिरहित है, तो उस उपाधिमय राजसुखकी इच्छा करके तू अपना आजका दिन अपवित्र न कर।

*

परिग्रहकी मूर्च्छा पापका मूल है।

सरलता धर्मका बीजस्वरूप है।
प्रज्ञापूर्वक सरलताका सेवन किया जाय तो
आजका दिन सर्वोत्तम है।

*

आहार करना तो उसे पुद्गलके समूहका एकरूप मानकर करना परन्तु उसमें लुब्ध न होना।

*

वेदनीय कर्मका उदय हुआ हो तो उसे पूर्वकर्मस्वरूप मानकर घबराना नहीं।

ममत्व ही बंधन है,
बंधन ही दुःख है।

*

पुद्गलकी हानिवृद्धि पर खेदखिन्न या खुश न होना।

*

कर्म छोड़नेका उपाय है — आत्मउपयोग।

बाँधनेवाला कोई नहीं है, अपनी भूलसे बँधता है।

*

एक को उपयोगमें लाओगे तो शत्रु सब दूर हो जाएँगे।

*

मैं कहाँसे आया?
मैं कहाँ जाऊँगा?
क्या मुझे बन्धन है?
क्या करनेसे बन्धन छूटे?
कैसे छूटा जाय?

—इन वाक्योंको स्मृतिमें रखना।

द्रव्य-कर्जको चुकानेकी चिन्ता रखते हो उसकी अपेक्षा भाव-कर्जको चुकानेकी विशेष त्वरा करो।

*

सुख-दुःख ये दोनों मनकी कल्पनाएँ हैं।

*

क्षमा ही मोक्ष का भव्य द्वार है।

*

नीति के नियमों को ठुकराओ नहीं।

*

संसार में रहते हुए, और उसे नीतिपूर्वक भोगते हुए भी विदेही दशा रखो।

दुर्जनता करके सफल होना ही हारना है, ऐसा मानना।

*

संसार की अनित्यता में सज्जनता ही नित्यतारूप है।

*

नीति के मार्ग में सज्जनता समझदार मार्गदर्शक है।

*

नीति है—यही समस्त आनन्द का कलेवर है।

आत्मा को सत्य रंग चढ़ाने वही सत्संग।
मोक्ष का मार्ग बताने वही मैत्री।

*

समस्वभावी के मिलन को ज्ञानी एकान्त कहते हैं

*

गुणी के गुण में अनुरक्त बनो।

चञ्चल चित्त ही सब विषम दुःखों की जड़ है।

*

यह तो अखंड सिद्धान्त मानना कि संयोग, वियोग, सुख, दुःख, खेद, आनंद, अनराग, अनुराग, इत्यादि योग किसी व्यवस्थित कारण से होते हैं।

*

जिस कृत्य का परिणाम दुःख है, उसे सन्मानने से पहले खूब सोचो।

आचरणमें बालक बनो,
सत्यमें युवान बनो,
ज्ञानमें वृद्ध बनो।

*

मनको वश किया उसने जगतको वश किया।

*

देव–देवियोंकी प्रसन्नताको क्या करेंगे?
जगतकी प्रसन्नताको क्या करेंगे?
प्रसन्नता सत्पुरुषकी चाहो।

सत्पुरुषके अंतःकरणने जिसका आचरण किया या बोध दिया वही धर्म।

*

जिसकी अन्तरंग मोहग्रंथी छूट गई वह परमात्मा है।

*

सम्यग्नेत्र पाकर
तुम चाहे जिस धर्मशास्त्रका विचार करो तो भी आत्महितकी प्राप्ति होगी।

जगतमें मान न होता तो यहाँ ही मोक्ष होता।

*

ज्ञानीलोग कहते हैं, स्वादका त्याग ही सच्चा आहार-त्याग है।

*

जिसने समस्त जगतका शिष्य होनेकी दृष्टि पाया नहीं, वह सद्गुरु बनने योग्य नहीं है।

'धर्म' वह वस्तु बहुत गुप्त रही हुई है।
वह बाह्य संशोधनसे नहीं मिलेगी।
अपूर्व अंतर संशोधनसे वह प्राप्त होती है।
वह अंतर संशोधन किसी महाभाग्यशालीको सद्गुरु के अनुग्रहसे प्राप्त होता है।

*

राग के बिना संसार नहीं
और संसार के बिना राग नहीं।

*

'स्यात्पद' से यह बात भी मान्य है कि
जो होनेवाला है वह बदलनेवाला नहीं
और जो बदलनेवाला है वह होनेवाला नहीं।
तो फिर धर्म के प्रयत्न में, आत्महित में अन्य उपाधि के अधीन होकर प्रमाद क्यों धारण करें?

एक भव के अल्प सुख के लिए अनंत भव का अनंत दुःख न बढाने का प्रयत्न सत्पुरुष करते हैं।

*

जो संसार प्रवृत्ति इह लोक में सुख का कारण तथा परलोक में सुख का कारण हो उस का नाम व्यवहार-शुद्धि है।

*

सत्पुरुषों का महान बोध है कि
उदय में आये हुए कर्मों को भोगते हुए नये कर्मों का बंधन न हो इस के लिए आत्मा को सचेत रखना।

मोक्ष के मार्ग दो नहीं हैं।

उस मार्ग में मतभेद नहीं है, असरलता नहीं है, उन्मत्तता नहीं है, भेदाभेद नहीं है, मान्यामान्य नहीं है।

वह सरल मार्ग है, वह समाधि मार्ग है, तथा वह स्थिर मार्ग है और स्वाभाविक शान्तिस्वरूप है।

*

मान्यामान्य, भेदाभेद या सत्यासत्य के लिए विचार करनेवाले या उपदेश देनेवाले को मोक्ष पाने के लिए जितने भवों का विलम्ब होगा, उतने समय का विलंब (गौणतासे) संशोधक और उस मार्ग के द्वार पर आये हुए को नहीं होगा।

मैत्री अर्थात् सारे विश्व के प्रति निर्वैर बुद्धि।

प्रमोद अर्थात् किसी भी आत्मा के गुण देख कर आनन्दित होना।

करुणा अर्थात् संसारके तापसे दुखित आत्माका दुःख देख कर अनुकम्पित होना।

उपेक्षा अर्थात् निस्पृहभावसे जगत के प्रतिबंध को बिसार कर आत्महितम रत होना।

ये भावनाएं कल्याणमय और पात्रता देनेवाली हैं।

शास्त्रमे मार्ग बताया है, मर्म नहीं।
मर्म तो सत्पुरुषके अन्तरात्मामें रहा है।

*

परमात्माका ध्यान करनेसे परमात्मा बनते हैं।

*

परन्तु वह ध्यान आत्मा सत्पुरुषके चरणकमलकी
-विनयोपासना किये बिना पा नहीं सकता।

दूसरा कुछ भी मत खोज।

केवल एक सत्पुरुषको खोज कर, उसके चरणकमलमें सब भाव अर्पण करके आचरण किये जा।

फिर भी यदि मोक्ष न मिले तो मुझसे लेना।

सत्पुरुष वही है जिसे निशदिन आत्मोपयोग रहता है,
शास्त्रमें नहीं है और सुननेमें भी नहीं आया है,
फिर भी अनुभवगम्य है ऐसा जिसका कथन है,
अंतरंगमें स्पृहा नहीं है ऐसी जिस की गुप्त आचरणा है।

निराबाधस्वरूपसे जिसकी मनोवृत्ति प्रवाहित रहती है,
संकल्प-विकल्पोंकी मंदता जिसको हो गई है;
पंचविषयोंसे विरक्त बुद्धिके अंकुर जिसके फूटे हैं,
क्लेशके कारणोंको जिसने निर्मूल किया है,
अनेकान्त-दृष्टियुक्त एकान्तदृष्टिका जो सेवन किया करता है,
जिसकी मात्र शुद्धवृत्ति ही है,
ऐसा प्रतापी पुरुष जयवान हो।

देहमें विचार करनेवाला बैठा है
वह क्या देहसे भिन्न है? वह सुखी है या दुःखी?
इसका स्मरण कर।

*

पूर्वकर्म नहीं है ऐसा मानकर प्रत्येक धर्म का सेवन करते चलो।
ऐसा करते हुए भी पूर्वकर्म विघ्न डाले तो शोक न करना।

*

शुभाशुभ कर्म का उदय होने पर हर्ष या शोक किये बिना उन्हें भुगतने से ही छुटकारा है और यह वस्तु मेरी नहीं है ऐसा मान कर समभाव की श्रेणी बढ़ाते रहो।

समझ कर अल्पभाषी होने वाले को पश्चात्ताप करने का अवसर शायद् ही संभवित है।

*

हे नाथ ! सातवीं तमतम प्रभा नरक की वेदना मिली होती तो उसे कदाचित् सम्मत करता परन्तु जगत की मोहिनी सम्मत नहीं है।

*

पूर्व के अशुभ कर्मों का उदय आने पर, उन्हें वेदन करने में अगर शोक करते हो तो अब यह भी ध्यान रखो कि नवीन बँधते हुए कर्म परिणाम में वैसे ही तो नही बँधते ?

आत्मा को पहचानना हो तो आत्मा के परिचयी बनो, परवस्तु के त्यागी बनो।

*

प्रशस्त पुरुष की भक्ति करो,
उस का स्मरण करो,
गुणचिन्तन करो।

*

जो अपनी पौद्गलिक बड़ाई चाहते हैं वे उतने तुच्छ ही हैं।

देह की जितनी फिक्र करता है, उतनी नहीं किन्तु उससे अनंत गुनी फिक्र आत्मा की रख, क्यों कि अनंत भवों को एक भव में टालना है।

*

पौद्गलिक रचनासे आत्माको स्तंभित करना उचित नहीं।

*

निरुपायताके आगे सहनशीलता ही सुखदायक है।

मन दिना अंतरी बातका अंत नहीं पा सकते।

*

लोकमुखासे लोकमें नहीं जा सकते।

*

ईश्वर पर विश्वास रखना यह एक सुखदायक मार्ग है।
जिसे दृढ़ विश्वास होता है वह दुःखी नहीं होता।
अगर दुःखी हो तो भी दुःखका वेदन नहीं करता।
दुःख उलटा सुखरूप हो जाता है।

संसारमें प्रारब्धके अनुसार चाहे कैसे शुभ-अशुभ कर्म उदय आवें, परन्तु उनमें प्रीति-अप्रीति करनेका हम संकल्प भी न करें।

*

दुःखका कारण एक मात्र विषम-आत्मा है।
अगर आत्मा सम है तो सब सुख ही हैं।

*

देहधारीके विटंबना तो एक धर्म है; उसमें खेद करके आत्माका विस्मरण क्यों करें?

जब तक आत्मा आत्मभावसे अन्यथा यानी
देहभावमें प्रवृत्ति करेगा,
मैं करता हूँ ऐसी बुद्धि करेगा,
मैं रिद्धि प्राप्तिसे महान हूँ ऐसा मानेगा,
शास्त्रको जाल समान मानेगा,
मनके लिए मिथ्या मोह करेगा,
तब तक उसको शान्ति होना दुर्लभ है।

किसी भी तरह उदयमें आये हुए और उदयमें आनेवाले कषायोंको शान्त करो। (शम)

*

सब प्रकार की अभिलाषाओ की निवृत्ति करते रहो। (संवेग)

*

तुम परिपूर्ण सुखी हो ऐसा मानो और बाकी के प्राणियो पर अनुकम्पा किया करो। (अनुकम्पा)

इतने काल तक जो कुछ किया उस सबसे निवृत्त होओ, और उसे करते हुये अब रुको। (निर्वेद)

*

किसी एक सत्पुरुषकी खोज करो और उनके चाहे जैसे वचनोंमें श्रद्धा रखो। (आस्था)

*

हे कर्म, मैं तुझे निश्चयपूर्वक आज्ञा करता हूँ कि मेरे पैरों नीति और नेकी न ठुकरायें।

उदासीनता ही अध्यात्मकी जननी है।

*

इच्छा, आशा जब तक अतृप्त है, तब तक वह प्राणी अधोवृत्तिवाला है।

इच्छाको जीतनेवाला प्राणी उर्ध्व गतिवाला है।

*

जिसका हृदय शुद्ध, संतकी बतायी गयी राह पर चलता है, उसको धन्य है।

मरणके अभावमें चढ़ी हुई आत्म-श्रेणी प्राय पतित होती है।

*

किसीके भी दोष न देख।

जो कुछ होता है, तेरे अपने दोषसे होता है, ऐसा मान।

*

तू आत्म-प्रशंसा न करना, अगर करेगा तो तू ही तुच्छ है, ऐसा मैं मानता हूँ।

सत्पुरुष के हर एक वाक्यमें,
हर एक शब्दमें,
अनंत आगम रहे हैं,
यह बात कैसे होगी ?

*

मायिक सुखकी सब प्रकारकी इच्छा कभी भी छोड़े बिना चारा नहीं है; तो जबसे यह वचन सुना, तभीसे उस क्रमका अभ्यास करना उचित है ऐसा समझो ।

किसी भी तरह सद्गुरुकी खोज करना।

उह पाकर उनके प्रति तन, मन, वचन और आत्मासे अर्पण बुद्धि करना।

उन्हींकी आज्ञाका सब प्रकारसे, निःशक हो कर आराधना करना,

और तभी सब प्रकारकी मायिक वासनाका अभाव होगा, ऐसा समझो।

*

मोक्षका माग बाहर नहीं, परन्तु आत्मामें है। मार्ग पाया है वही मार्ग प्राप्त करायेगा।

भवस्थिति परिपक्व हुए बिना,
दीनबन्धुकी कृपाके बिना,
संतके चरणका सेवन किये बिना,
तीनों कालमें मार्ग मिलना दुर्लभ है।

*

जो छूटनेके लिए ही जीता है, वह बन्धनमें नहीं आता।

*

दीनबन्धुकी दृष्टि ही ऐसी है कि छूटनेकी इच्छावालेको बाँधना नहीं और बँधनेकी इच्छावालेको छोड़ना नहीं।

अनतकालसे अपनेको अपने स्वरूपकी भ्रान्ति रह गई है, यह एक अनाच्य अद्‌भुत विचारणाका स्थल है।

*

निरन्तर उदासीनताके क्रमका सेवन करना,
सत्पुरुषकी भक्तिमें लीन होना,
सत्पुरुषोंके चरित्रोंका स्मरण करना,
सत्पुरुषोंके लक्षणोंका चिन्तन करना,
सत्पुरुषोंकी मुखाकृतिका हृदयसे अवलोकन करना,

उनके मन, वचन, कायाकी हर एक चेष्टाके अद्‌भुत रहस्योंका बार बार निदिध्यासन करना,

और उनका सम्मत किया हुआ सर्व सम्मत करना।

जिससे वक्रता, जड़ता प्राप्त होती है ऐसे मायिक व्यवहारमें उदासीन होना ही श्रेयस्कर है।

*

जो कुछ प्रिय करने योग्य है, उसे जीवने जाना नहीं है,
और बाकीका कुछ भी प्रिय करने योग्य नहीं है,
यह हमारा निश्चय है।

*

अपने आपको भूल जानेरूप अज्ञानका नाश, ज्ञानप्राप्तिसे ही होता है, ऐसा निःसंदेह मानो।

ज्ञानकी प्राप्ति ज्ञानीसे ही होनी चाहिए।

*

जीव अपने आपको भूल गया है और इसीसे उसका सत्सुखसे वियोग हुआ है ऐसा सब धर्मोंमें माना है।

*

जीव अनंत काल तक अपने स्वच्छंदसे चल कर परिश्रम करे तो भी वह अपने आपसे ज्ञान नहीं पा सकता।

परंतु ज्ञानीकी आज्ञाका आराधक अंतर्मुहूर्तमें भी केवल ज्ञान पा सकता है।

भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है और सत्पुरुषके चरणोंके समीप रह कर उसका सेवन किया जाय तो वह क्षण भरमें मोक्ष दे ऐसा पदार्थ है।

*

'सत्' सत् ही है, सरल है, सुगम है; सर्वत्र उसकी प्राप्ति है; परन्तु 'सत्'को बतानेवाला 'सत्' होना चाहिए।

*

धर्म उसको कह सकते हैं जो धर्म होकर परिणमे,
ज्ञान उसको कह सकते हैं जो ज्ञान होकर परिणमे।

परमार्थ पर प्रीति होनेके लिए सत्सग एक सर्वोत्कृष्ट और अनुपम साधन है।

*

जिसकी सत् प्राप्त करनेकी दृढ मति हुई है, उसे 'स्वय कुछ भी नहीं जानता' ऐसा दृढ निश्चययुक्त विचार पहले करना चाहिए और फिर 'सत्'की प्राप्तिके लिए ज्ञानीकी शरणमें जाना चाहिए तो अवश्य ही मार्गकी प्राप्ति होगी।

*

इस जगतके प्रति हमारा परम उदासीन भाव रहता है, यदि वह बिलकुल सोनेका हो जाय तो भी वह हमारे लिए तृणवत् है, और परमात्माकी विभूतिरूपमें हमारा भक्तिधाम है।

परमात्मामें परम स्नेह चाहे कैसे भी विकट मार्गसे होता हो तो भी उसे करना योग्य है।

*

अंतकालमें प्राणीको यम दुःखदायक नहीं लगता होगा, परन्तु हमको संग दुःखदायक लगता है।

*

जो कुछ होता है, होने देना; न उदासीन बनना, न अनुद्यमी; न परमात्मासे भी कुछ इच्छा रखना और न घबराना।

क्रमसे, भ्रान्तिसे या मायासे छूटना ही मोक्ष है, यही मोक्षकी शाब्दिक व्याख्या है।

*

ज्ञानी पुरुष और परमात्मामें अन्तर नहीं है। जो कोई अन्तर मानता है उसे मार्गकी प्राप्ति होना परम विकट है।

*

'परमात्मा ही देहधारीरूपमें प्रकट हुआ है,' ऐसी बुद्धि ज्ञानी पुरुषके प्रति उत्पन्न होने पर जीवको भक्ति उत्पन्न होती है।

परमात्माकी भक्ति ही जिसे प्रिय है ऐसे पुरुषको यदि ऐसी (व्यावहारिक) कठिनाई न हो तो फिर उसे सच्चे परमात्माकी भक्ति ही नहीं है, ऐसा समझना चाहिये।

कठिनता और सरलता, साता और असाता, ये भगवद्भक्तको समान ही है; और कठिनता और असाता तो विशेष अनुकूल हैं क्योंकि वहाँ मायाका प्रतिबन्ध दृष्टिगत नहीं होता।

*

जब तक ईश्वरेच्छा नहीं तब तक हमसे कुछ भी न हो सकेगा। एक तृणके दो टुकडे करनेकी भी सत्ता हममें नही है।

ईश्वरेच्छाके अनुसार जो हो उसे होने देना, यह भक्तिमानके लिए सुखदायक है।

*

परमानन्दरूप हरिको एक क्षणके लिए भी न भूलना, यह हमारी सब कृति, श्रुति और लेखका हेतु है।

*

जिसे (लगन) लगी है, उसीको लगी है, और उसीने उसको जाना है, वही " पी पी " पुकारता है।

उसके ही चरणरागसे लगती है और जब लगती है, तभी छुटकारा होता है।

इसके सिवाय और कोई सुगम मोक्ष-मार्ग है ही नहीं।

प्रत्यक्ष योग होने पर विना समझाये भी स्वरूप-स्थिति होनी संभवित मानता हूँ।

और इससे यही निश्चय होता है कि उस जोगका और प्रत्यक्ष चिंतनका फल मोक्ष होता है; क्योंकि मूर्तिमान मोक्ष वह सत्पुरुष ही है।

*

प्रायः जीव जिस परिचय में रहता है। उस परिचयरूप अपनेको मानता है।

इसका प्रत्यक्ष अनुभव भी है कि अनार्य कुलमें परिचय रखनेवाला जीव, अपनेको दृढतापूर्वक अनार्यरूप मानता है और आर्यत्वमें मति नही करता।

जीनको सत्सग ही मोक्ष का परम साधन है।

सत्सग जैसा अन्य हितकारी साधन हमने इस जगतमें न देखा है न सुना है।

*

भक्ति पूर्णता पाने योग्य तभी होती है कि जब हरिसे एक तृणकी भी याचना नहीं करे। सब दशामें भक्तिमय ही रहना।

*

व्यवस्थित मन यह सब शुचिका कारण है।

'मुमुक्षुता' यही है कि सब प्रकारकी मोहासक्तिसे घबराकर एक मात्र मोक्षके लिए यत्न करना।

और 'तीव्र मुमुक्षुता' यह है कि अनन्य प्रेमसे मोक्षके मार्गमें प्रतिक्षण प्रवृत्ति करना।

५

मुमुक्षुके नेत्र महात्माको परख लेते हैं।

*

सत्पुरुषमें ही परमेश्वर-बुद्धि, इसे ज्ञानियोंने पर[म] धर्म कहा है।

और यह बुद्धि परम दैन्यत्व सूचित करती है।

इससे सब प्राणियोंमें अपना दासत्व माना जाता और परम योग्यताकी प्राप्ति होती है।

महात्मामें जिसके दृढ निश्चय होता है, उसकी मोहासक्ति दूर होकर, पदार्थका निर्णय होता है,

इससे व्याकुलता मिट जाती है।

इससे निःशंकता आती है।

इससे जीव सब प्रकारके दुःखसे निर्भय होता है और उसीसे निःसंगता पैदा होती है,

और ऐसा योग्य है।

जीव स्वभावसे (अपनी समझकी भूलसे) दोषित है; फिर उसके दोषकी ओर देखना यह अनुकम्पाका त्याग करने जैसा होता है।

*

सर्व शक्तिमान हरिकी इच्छा सदैव सुखरूप ही होती है और जिस पुरुषने भक्तिके कुछ भी अंश प्राप्त किये हैं उसे तो यही निश्चय करना चाहिए कि "हरिकी इच्छा सदैव सुखरूप ही होती है।"

ऐसा एक ही पदार्थ परिचय करने योग्य है कि जिससे अनंत प्रकारका परिचय निवृत्त होता है।

यह पदार्थ कौन सा?

और किस प्रकारसे?

इसका मुमुक्षुलोग विचार करते हैं।

*

जगतमें अच्छा दिखानेके लिए मुमुक्षु जीव कोइ प्रवृत्ति न करे, परन्तु जो अच्छा है उसीका आचरण करे।

*

शास्त्र आदिके ज्ञानसे अंत नहीं आता, परन्तु अनुभवज्ञानसे अंत आता है।

प्रेमरूप भक्तिके विना ज्ञान शून्य ही है।

ज्ञानीसे ज्ञानकी अभिलाषा करना इसकी अपेक्षा बोध-स्वरूप समझकर भक्तिकी इच्छा करना यही परम फल है।

*

भगवान मुक्ति देनेमें कृपण नहीं, परन्तु भक्ति देनेमें कृपण है ऐसा लगता है।

भगवानको ऐसा लोभ क्यों होगा?

*

जीवको जब तक संतका योग न हो तब तक मतमतान्तरोंमें मध्यस्थ रहना योग्य है।

अपनी इच्छासे किया हुआ दोष जीवको तीव्रतासे भोगना पड़ता है इस लिए किसी भी संग-प्रसंगमें स्वेच्छासे अशुभ भावसे प्रवृत्ति न करनी पड़े ऐसा करना।

*

जिसके लिए आर्त्तध्यान करना पड़ता है वहाँसे या तो मन हटा लेना या वह कृत्य कर डालना। इस तरह उससे विरक्त हुआ जायगा।

*

यदि उदयको अबंध परिणामसे भोगा जाय तो ही उत्तम है।

भगवानको समर्पण किये बिना इस कालमें जीवका देहाभिमान टलना संभवित नहीं है।

*

विचार करके वस्तुको बारम्बार समझो।

मनसे किये हुए निश्चयको साक्षात् निश्चय न मानना।

ज्ञानी द्वारा किये हुए निश्चयको जानकर प्रवृत्ति करनेमें कल्याण है।

जिंदगी अल्प है और जंजाल अनंत,
संख्यात धन है और तृष्णा अनंत,
वहाँ स्वरूपस्थिति का संभव नहीं है।
परन्तु जहाँ जंजाल अल्प है
और जिंदगी अप्रमत्त है
तथा तृष्णा अल्प है या नहीं है
और सर्वसिद्धि है,
वहाँ स्वरूपस्मृति पूर्ण होना संभव है।

सांसारिक उपाधि हमें भी कुछ कम नहीं है

तथापि उसमें निजपना नहीं रहनेके कारण उससे घबराहट नहीं उत्पन्न होती।

*

ज्यों ज्यों आरंभ और परिग्रहका मोह मिटता जाता है,

ज्यों ज्यों उनमेंसे निजपनेका अभिमान मंद परिणामको पाता है,

त्यों त्यो मुमुक्षुता बढ़ती जाती है।

अनतकालसे जिसका परिचय है ऐसा यह अभिमान प्राय एकदमसे निवृत्त नहीं हो जाता। इस लिए तन, मन, धन आदि जो कुछ 'अपनापन'से रहे हैं, वह सब ज्ञानीके अर्पण किया जाता है।

ज्ञानी प्राय उन्हें कुछ ग्रहण नहीं करते, परतु उनमेंसे 'अपनापन' मिटानेका उपदेश करते हैं; और करने योग्य भी यही है कि आरभपरिग्रहको बार बारके प्रसग पर खूब सोचसमझ कर अपना बनते हुए रोकना।

तब मुमुक्षुता निर्मल होती है।

भ्रान्तिके कारण सुखरूप लगनेवाले इन संसारी प्रसंगों और प्रकारों में जब तक जीवको प्रेम रहा करता है; तब तक जीवको निज स्वरूपका ज्ञान होना असंभव है और सत्संग का महात्म्य भी यथातथ्यरूपसे भास्यमान होना असंभव है।

जब तक यह संसारगत प्रेम असंसारगत प्रेममें पल्ट न जाय तब तक अप्रमत्ततासे बार बार पुरुषार्थ करना अवश्य ही स्वीकार्य है।

जो कर्म उपार्जित नहीं किये वे भोगने नहीं पड़ते।

ऐसा समझकर दूसरे किसीके प्रति दोष-दृष्टि करनेकी वृत्तिको जैसे बने वैसे शान्त करके समतासे आचरण करना योग्य लगता है और यही जीवका कर्तव्य है।

*

सांसारिक उपाधिका जो कुछ भी होता हो, होने देना, यही कर्तव्य है।

धीरजपूर्वक उदयका वेदन करना योग्य है।

*

महात्माकी देह दो कारणोंसे विद्यमान है-प्रारब्ध कर्मको भोगनेके लिए, और जीवोंके कल्याणके लिए; तथापि इन दोनोंमें वे उदास भावसे, उदय आयी हुई वर्तना अनुसार चलते हैं।

जगतके अभिप्रायको देख कर जीवने पदार्थका बोध पाया है, ज्ञानीके अभिप्रायको देख कर बोध नहीं पाया। जिस जीवने ज्ञानीके अभिप्रायसे बोध पाया है उस जीवको सम्यग्दर्शन होता है।

*

किसी भी तरह पहले तो जीवको अपनी अहता दूर करना योग्य है।

देहाभिमान जिसका गलित हुआ है उसे सब कुछ सुखरूप ही है।

जिसे भेद नहीं उसे खेदका समय नहीं।

हरि-इच्छाके प्रति विश्वास दृढ रख कर बरतते हो, यह भी सापेक्ष सुखरूप है।

जिसे बोध-बीजकी उत्पत्ति होती है, उसे स्वरुप-सुखसे पूर्ण तृप्ति रहती है, और विषयोंके प्रति अप्रयत्न-दशा रहती है।

जिस जीवनमें क्षणिकता है उस जीवनमें ज्ञानियोंने नित्यता प्राप्त की है यह एक अचरज की बात है।

*

जिसे सच्चा आत्मभान हो जाता है, उसे 'मैं अन्य भावका अकर्ता हूँ' ऐसा बोध उत्पन्न हो कर अहं प्रत्ययी बुद्धि विलय होती है।

अनतकाल व्यवहार करनेमें बिताया है, फिर उसकी जजालमें परमार्थका विसर्जन न हो इस तरह ही चलना, ऐसा जिसका निश्चय है उसको वैसा होता है, ऐसा हम जानते हैं।

*

ज्ञानी अपना उपजीवन, आजीविका भी पूर्व कर्मके अनुसार करता है, जिससे ज्ञानमें प्रतिबद्धता आये इस तरहकी आजीविका न करता है, न करनेका प्रसग चाहता है।

*

ज्ञानीके प्रति जिन्हें केवल निस्पृह भक्ति है, अपनी इच्छा उससे पूरी नहीं होती यह देखते हुए भी जिनके दिल में दोष नहीं आता, ऐसे जीवोंकी आपत्ति, ज्ञानीके आश्रय में धीरजपूर्वक रहते हुए, या तो नष्ट होती है या अति मद हो जाती है।

कितनी भी आपत्तियाँ क्यों न आएँ, फिर भी ज्ञानीके द्वारा सांसारिक फलकी इच्छा करना योग्य नहीं।

*

उदय आये हुए अन्तरायको सम-परिणामसे वेदन करना योग्य है, विषम परिणामसे वेदन करना योग्य नहीं।

*

दुःखकी निवृत्ति सब जीव चाहते हैं।

मगर दुःखकी निवृत्ति दुःख जिनसे पैदा होते हैं ऐसे राग, द्वेष, अज्ञान आदि दोषोंकी निवृत्तिके बिना, होना संभव नहीं है।

उन राग आदिकी निवृत्ति एक आत्मज्ञानके बिना दूसरे किसी प्रकारसे न भूतकालमें हुई है, न वर्तमान-काल में होती है, न भविष्यकाल मे हो सकेगी।

हे राम! जिस अवसर पर जो प्राप्त हो जाय, उसी मे संतुष्ट रहना, यह सत्पुरुषोंका कहा हुआ सनातन धर्म है–ऐसा वसिष्ट कहते थे।

*

जिस जिस प्रकारसे आत्मा आत्मभावको प्राप्त करे, वे सब प्रकार धर्मके हैं।

आत्मा जिस प्रकारसे अन्यभावको प्राप्त करे, वह प्रकार अन्यरूप है, धर्मरूप नहीं।

*

जीवके लिए, धर्म, अपनी कल्पनासे या कल्पना-प्राप्त अन्य पुरुषसे, श्रवण करने, मनन करने या आराधना करने योग्य नहीं है।

केवल जिसकी आत्मस्थिति है ऐसे सत्पुरुषसे ही आत्मा या आत्मधर्म श्रवण करने योग्य है, यावत् आराधने योग्य है।

सत्संग जैसा कल्याणका अन्य कोई बल्वान कारण नहीं है, और उस सत्संगमें निरंतर समय समय पर निवासकी इच्छा करना तथा असत्संगका प्रतिक्षण विपरीत फल सोचना, यही श्रेयरूप है।

*

जिसकी प्राप्तिके बाद अनंतकालकी याचकता मिटकर सदा कालके लिए अयाचकता प्राप्त हो जाय, ऐसा अगर कोई है तो उसे हम तरण-तारण जानते है-उसीको भजो।

*

मोक्ष तो इस कालमें भी प्राप्त हो या प्राप्त होता है परन्तु मुक्तिका दान देनेवाले ऐसे पुरुषकी प्राप्ति परम दुर्लभ है; अर्थात् मोक्ष दुर्लभ नहीं, मोक्षका दाता दुर्लभ है।

हे परम कृपालु देव ! जन्म, जरा, मरण आदि सब दुःखोंका क्षय करनेवाला ऐसा वीतराग पुरुषका मूल मार्ग, आप श्रीमद्ने अनंत कृपा करके मुझे बताया, इस अनंत उपकारका प्रत्युपकार करनेमें मैं सर्वथा असमर्थ हूँ और आप श्रीमान् कुछ भी लेनेको बिलकुल निस्पृह है, इस लिए मैं मन, वचन और काया तीनोंकी एकाग्रतासे आपके चरणारविंदोंमें नमस्कार करता हूँ। आपकी परम भक्ति और वीतराग पुरुषके मूलधर्मकी उपासना मेरे हृदयमें भवपर्यंत अखंडरूपसे जाग्रत रहो, इतनी याचना करता हूँ, वह सफल होओ।

ॐ शान्ति शान्ति शान्ति

जिस पदार्थमेंसे नित्य व्यय अधिक हुआ करे और आय कम हो, वह पदार्थ धीरे धीरे अपनापन गँवाता है अर्थात् नष्ट हो जाता है; ऐसा विचार रखकर इस व्यवसायका प्रसंग रखना योग्य है।

*

आत्माको विभावसे अवकाशित करनेके लिए और स्वभावमें अनवकाशरूपसे रहनेके लिए यदि कोई मुख्य उपाय हो तो वह आत्मारामी ज्ञानी पुरुषका निष्काम बुद्धिसे भक्तियोगरूप संग है।

*

परमार्थके सब साधनोंमें परम साधन सत्संग है; सत्पुरुषके चरण समीपका निवास है।

अमुक समय तक अनुकूल प्रसगयुक्त ससारमें कदाचित् कुछ सत्सग योग हुआ हो तो भी उससे इस कालम वैराग्यका योग्य रूपमें वेदन होना कठिन है।

परन्तु बाद्में प्रतिकूल ऐसा कोई कोई प्रसग बनता रहा हो, तब उसकी सोचसे या विशेष विचारसे सत्सग हितकारी हो जाता है,

ऐसा जानकर जिस किसी प्रतिकूल प्रसगकी प्राप्ति हो, उसे आत्मसाधनका कारणरूप मानकर समाधिपूर्वक जागृत रहना।

कल्पित भावमें किसी तरह भूलना योग्य नहीं है।

संसारके प्रसंगोंमें क्वचित् जबतक हमारे अनुकूल हुआ करता है तबतक उस संसारके स्वरूपका विचार करके, वह त्याग करने योग्य है ऐसा हृदयको लगना प्रायः दुर्लभ है।

उस संसारमें जब जब बहुतसे प्रतिकूल प्रसंग प्राप्त होते हैं, उस समय जीवको वह पहले अरुचिकर लगता है और बादमें वैराग्य आता है फिर आत्म-साधनकी कुछ सूझ पड़ती है।

परमात्मा श्रीकृष्णके वचनके अनुसार मुमुक्षु जीवको वे सब प्रसंग सुखदायी मानने चाहिये कि जिन प्रसंगों के कारण आत्मसाधन सूझता है।

जहाँ कोई उपाय नहीं वहाँ खेद करना योग्य नहा है।

ईश्वरेच्छाके अनुसार जो होता है उसमें समता रखना ही योग्य है। और उसके उपायका यदि कोई विचार सूझ पड़े तो उसे किये जाना, केवल यही हमारा उपाय है।

*

एक बार एक तिनकेके दो टुकडे कर सकनेकी क्रिया-शक्तिका भी उपशम होगा, तब तो ईश्वरेच्छा होगी वही होगा।

*

किये हुए कर्म बिना भोगे निवृत होते नहीं, और नहीं किये हुए किसी कर्मका फल प्राप्त होता नहीं।

मल, विक्षेप और अज्ञान ये तीन जीवके अनादिके दोष है।

ज्ञानी पुरुषोंके वचनकी प्राप्ति होने पर, उसका यथायोग्य विचार होनेसे अज्ञानकी निवृत्ति होती है।

उस अज्ञानकी संतति बलवान होनेसे उसका निरोध होनेके लिए, और ज्ञानी पुरुषके वचनोंका यथायोग्य विचार होनेके लिए, मल और विक्षेप मिटाना योग्य है।

सरलता, क्षमा, अपने दोषोंका निरीक्षण, अल्प-आरंभ, अल्प-परिग्रह ये सब मलको मिटानेके साधन है।

ज्ञानी पुरुषकी अत्यंत भक्ति, विक्षेप मिटानेका साधन है।

अब ऐसा निश्चय करना योग्य है कि

जिसे आत्मस्वरूप प्राप्त है, प्रगट है उस पुरुषके सिवाय अन्य कोइ उस आत्मस्वरूपको यथार्थ कहनेके लिये योग्य नहीं है,

और उस पुरुष द्वारा आत्माको जाने बिना, कल्याणका और कोइ उपाय नहीं है।

उस पुरुषसे आत्माको जाने बिना 'आत्मा जाना है', ऐसी कल्पनाका मुमुक्षु जीवको सर्वथा त्याग करना ही उचित है।

उस आत्मारूप पुरुषके सत्संगकी निरंतर कामना रखते हुए उदासीन भावसे लोकधर्म संबधी और कर्मसंबधी इस तरह व्यवहार करना कि परिणाममें उससे छूट सकें।

आत्मार्थी पुरुषके बचने योग्य कोई उपाय है तो वह एक मात्र निरंतर अविच्छिन्न धारासे सत्संगकी उपासना करना ही मालूम होता है।

*

पूर्वका प्राप्त किया हुआ प्रारब्ध जिससे शांत होता है, वह उपाधि परिणामसे आत्मप्रत्ययी कहना योग्य है।

*

प्रायः प्राणी मात्र आशासे जीवित रहते हैं।

ज्यों ज्यों संज्ञा विशेष होती है त्यों त्यों विशेष आशाके बलसे जीना होता है।

जहाँ केवल एक आत्मविचार और आत्मज्ञानका उद्भव होता है,

वहाँ सब प्रकारकी आशाओंकी समाधि होकर जीवके स्वरूपसे जिया जाता है।

स्पष्ट प्रीतिसे संसारको सेवन करनेकी इच्छा होती हो तो
उस पुरुषने ज्ञानीके वचन नहीं सुने हैं
या उसने ज्ञानी पुरुषके दर्शन भी नहीं किये हैं
ऐसा तीर्थंकर कहते हैं।

*

जिसकी कमर टूट गयी है उसका प्राय सब बल परिक्षीण हो जाता है। जिस पर ज्ञानी पुरुषके वचनरूप लाठीका प्रहार हुआ है उस पुरुषमें उस प्रकारसे संसार रूपी बल क्षीण होता है ऐसा तीर्थंकर कहते हैं।

रखा हुआ कुछ रहता नहीं और छोड़ा हुआ कुछ छूटता नहीं: इस प्रकार परमार्थ विचार कर किसीके प्रति दीनता दिखाना या विशेषता दिखाना योग्य नहीं।

समागममें दीनभावसे नहीं आना चाहिए।

*

परमार्थ-मार्गका लक्षण यह है कि अपरमार्थका सेवन करते हुए जीव, सुखमें या दुःखमें सब प्रकारसे कायर हुआ करे।

दुःखमें कायर होना, कदाचित् दूसरे जीवोंके भी संभव है, परन्तु संसार-सुखके प्राप्त होने पर भी कायरता, उस सुखमें अरुचि और नीरसता परमार्थ मार्गरत पुरुषके ही होते हैं।

जिस वस्तुका महात्म्य दृष्टिमेंसे निकल गया, उस वस्तुके लिए अत्यंत क्लेश नहीं होता।

*

सब तरहसे ज्ञानी पुरुषकी शरणमें बुद्धिको स्थिर रख कर निर्भयता और अखेदता धारण करनेकी सीख श्री तीर्थंकर जैसे पुरुषोंने दी है और हम भी यही कहते हैं।

किसी भी कारणसे इस संसारमें क्लेशित होना योग्य नहीं है।

अविचार और अज्ञान ही सब क्लेश, मोह और दुर्गतिका कारण है।

सद्विचार और आत्मज्ञान ही आत्मगतिका कारण है।

शारीरिक वेदनाको, देहका धर्म जानकर और बाँधे हुए कर्मोंका फल जानकर, सम्यक् प्रकारसे सहन योग्य है।

*

संसारकी ज्वालाको देखकर चिंता न करना।

यदि चिंतामें समता रहे तो वह आत्मचिंतन समान है।

*

उपार्जित कर्मकी स्थितिको समपरिणामसे अदीनतासे, व्याकुल न होकर सहन करना, यही ज्ञानीपुरुषोंका मार्ग है।

*

अगर यथार्थ ज्ञानदशा हो तो उसे देहके दुःखप्राप्तिके कारणों में विषमता नहीं होती:

और उस दुःखको दूर करनेकी इतनी अधिक दरकार भी नहीं होती।

"आतम भावना भावता
जीव लहे केवलज्ञान रे"

आत्मभावकी भावना करते करते जीव केवलज्ञान प्राप्त करता है।

जो ईश्वरेच्छा होगी, सो होगा।

मनुष्यके लिए केवल प्रयत्न करना सृजित है। और उसीसे अपने प्रारब्धमें जो होगा वह मिला करेगा।

अतः मनमें संकल्प-विकल्प नहीं करना।

*

कविता कवितार्थ आराधने योग्य नहीं है,

संसारार्थ आराधने योग्य नही है, भगवद् भजनार्थ या आत्मकल्याणार्थ यदि उसका प्रयोजन हो तो जीवको उस गुणकी क्षयोपशमताका फल है।

*

जिस विद्यासे उपशम-गुण प्रगट नहीं हुआ, विवेक पैदा न हुआ या समाधि न हुई उस विद्यामें भले जीवको आग्रह करना ठीक नही है।

मुमुक्षु जीवको इस कालमें ससारकी प्रतिकूल दशाएँ प्राप्त होना यह उसके लिए ससारसे पार होनेके बराबर है।

अनत कालसे जिस ससारका अभ्यास हुआ है उसे स्पष्टरूपसे सोचनेका प्रसग प्रतिकूल सजोगोंमें विशेष होता है, यह बात निश्चितरूपसे मानने योग्य है।

*

व्यावहारिक प्रसगोंकी नित्य चित्र-विचित्रता है। केवल कल्पनासे उनमें सुख और कल्पनासे दुःख ऐसी उनकी स्थिति है। अनुकूल कल्पनासे वे अनुकूल लगते हैं और प्रतिकूल कल्पनासे वे प्रतिकूल लगते हैं, और ज्ञानी पुरुषोंने उन दोनों कल्पना करनेका निषेध किया है।

विचारवानको शोक करना ठीक नहीं, ऐसा श्री तीर्थंकर कहते थे।

मूल रूपसे देखने पर अगर जीवको मुमुक्षुता आयी हो तो उसका संसार-बल हररोज घटता रहे।

संसारमें धनादि संपत्ति घटे या न घटे, वह अनियत है; परन्तु जीवका संसारके प्रति जो भावना है वह मन्द होती चले-क्रमशः नाश होने योग्य हो जाय।

*

जो जीव कल्याण की आकांक्षा रखता है, और जिसे प्रत्यक्ष सत्पुरुषका निश्चय है उसके लिए प्रथम भूमिकामें यह नीति मुख्य आधार है। जो जीव ऐसा मानता है कि उसे सत्पुरुषका निश्चय हुआ है परन्तु ऊपर कही हुई नीतिकी प्रबलता अगर उसमें नहीं है, और कल्याणकी याचना करता है या बात करता है, तो वह निश्चय मात्र सत्पुरुषको ठगनेके ही बराबर है।

जो मुमुक्षु जीव गृहस्थके व्यवहारमें रहते हों, उन्हें पहले तो आत्मामें अखण्ड नीतिका मूल स्थापन करना चाहिए, नहीं तो उपदेश आदि निष्फल होते हैं।

द्रव्य आदि उत्पन्न करना इत्यादि व्यवहारोंमें साङ्गोपाङ्ग न्यायसम्पन्न रहना उसका नाम नीति है। इस नीतिको त्यजनेमें प्राण चले जायें ऐसी दशाको प्राप्त कर ले तभी त्याग-वैराग्य असल रूपमें प्रगट होते हैं, उस जीवको ही सत्पुरुषके वचनोंका और आज्ञाधर्मका अद्भुत सामर्थ्य, माहात्म्य और रहस्य समझमें आता है और सब वृत्तियाँ निजरूपसे प्रवृत्ति करें ऐसा मार्ग स्पष्ट सिद्ध होता है।

संसारका स्वरूप कारागृह जैसा है-आत्माको ऐसा वार बार और प्रतिक्षण लगा करे, यह मुमुक्षुताका मुख्य लक्षण है।

*

ज्ञानी पुरुषकी जो आज्ञा है वह भवभ्रमणके मार्गमें आड़े प्रतिबंध समान है।

*

पानी स्वभावसे ही शीतल है तो भी उसे किसी बरतनमें रखकर, नीचे यदि आग जलती रखें तो, उसकी इच्छा न होने पर भी वह पानी उष्ण बनता है; उसी तरह यह व्यवसाय भी, समाधिसे शीतल ऐसे पुरुषके प्रति उष्णताका कारण बनता है।

वीतरागका कहा हुआ परम शान्त रसमय धर्म पूर्ण सत्य है, ऐसा निश्चय रखना। जीव अधिकारी न होनेसे तथा सत्पुरुषका योग नहीं होनेसे यह समझमें नहीं आता, तथापि इसके समान जीवको संसार-रोग मिटानेका और कोई पूर्ण हितकारी औषध नहीं है ऐसा बार बार चिन्तन करना।

यह परम तत्त्व है, उसका मुझे सदा ही निश्चय रहे, यह यथार्थ स्वरूप मेरे हृदयमें प्रकाश करे और जन्म-मरण आदि बंधनकी अत्यन्त निवृत्ति हो, निवृत्ति हो।

जहाँ जहाँ इस जीवने जन्म लिया है, भवके प्रकार धारण किये हैं, वहाँ वहाँ उस प्रकारके अभिमानसे चला है; जिस अभिमानको निवृत्त किये बिना उन देहोंका और देहके संबंधमें आये हुए प्रदार्थोंका इस जीवने त्याग किया है, अर्थात् अभी तक ज्ञानविचारसे उस भावको दूर नहीं किया है, और वे सब पूर्वकी संज्ञाएँ ज्योंकी त्यों इस जीवके अभिमानमें चली आ रही हैं। यही इसे समस्त लोककी अधिकरण–क्रियाका हेतु कहा है।

जिन्हें स्वप्नमें भी संसारसुखकी इच्छा नहीं रही, और जिन्हें संसारका स्वरूप संपूर्ण निःसारभूत लगा है ऐसे ज्ञानी पुरुष भी आत्मावस्थाको बारम्बार सम्हाल सम्हाल कर, जो उदय हो उस प्रारब्ध का वेदन करते हैं, परन्तु आत्मावस्थामें प्रमाद नहीं होने देते। प्रमादका अवकाश होनेके कारण जिस संसार से ज्ञानी को भी किसी अशुभ व्यामोह होनेका भय बताया है, उस संसारमें रह कर साधारण जीव अपना व्यवसाय लौकिक भावसे करते हुए आत्महित करना चाहे यह असंभव-सा कार्य है, क्योंकि लौकिक भावके कारण जहाँ आत्माको निवृत्ति नहीं होती, वहाँ और किसी रीतिसे हित-विचार होना संभव नहीं है।

आत्महितके लिए सत्संग जैसा प्रबल और कोई निमित्त दिखाई नही देता; परन्तु जो जीव लौकिक भावसे अवकाश ग्रहण नहीं करता, उसे यह सत्संग भी प्रायः निष्फल जाता है और यदि सत्संग थोड़ा फलदायी हुआ हो तो भी, लोकावेश अधिकाधिक रहता हो तो वह फल निर्मूल होनेमें देर नही लगती।

भगवत् भगवत्की समाल लेगा, परन्तु तब जब जीव अपनापन छोड़ेगा।

शत्रु या मित्र के प्रति रहे समदर्शिता,
मान–अपमान में भी वही स्वभाव रहे,
जीवन या मरण में भी न्यूनाधिक भाव न रहे,
जन्म या मोक्ष में भी शुद्ध स्वभाव रहे,
ऐसा अपूर्व अवसर कब आएगा ?

राग, द्वेष और अज्ञान ही कर्मकी मुख्य गाँठ है, जिससे उसकी निवृत्ति हो वही मोक्षका मार्ग है।

श्री खरतरगच्छीय ज्ञान मन्दिर, जयपुर

मुमुक्षु जीवको अर्थात् विचारवान जीवको इस संसारमें अज्ञानके सिवाय और कोई भय नहीं है।

एक अज्ञानकी निवृत्तिकी इच्छा रखना, इस एक इच्छाके सिवाय विचारवान जीवको अन्य इच्छा न हो।

विचारवानके चित्तमें यह विचार निश्चयरूपसे रहा करता है कि–संसार कारागृह है, समस्त लोक दुःखके कारण पीड़ित है, भय के कारण आकुल-व्याकुल है और राग-द्वेषके प्राप्त फलसे प्रज्वलित है।

ज्ञानकी प्राप्तिमें कुछ अंतराय है इसलिए कारागृहरूप संसार मुझे भयका हेतु है और लोक–संग करने योग्य नहीं है यही एक भय विचारवानको उचित है।

सब जीव आत्मरूपसे सम-स्वभावी हैं। दूसरे पदार्थमें यदि जीव निज-बुद्धि करे तो परिभ्रमण दशाको पाता है और यदि निजमे निज-बुद्धि करे तो परिभ्रमण दशा टलती है।

*

उपार्जित प्रारब्ध यदि बिना भोगे ही नष्ट हो तो फिर सभी मार्ग मिथ्या ही सिद्ध हो।

*

श्री जिन आत्मपरिणामकी स्वस्थताको समाधि और आत्मपरिणामकी अस्वस्थताको असमाधि कहते हैं।

अस्वस्थ कार्यकी प्रवृत्ति करना और आत्मपरिणाम स्वस्थ रखना ऐसी विषम प्रवृत्ति श्री तीर्थंकर जैसे ज्ञानीसे होना कठिन कही है, तो फिर अन्य जीवसे वह बात समनित होना कठिन हो इसमें आश्चर्य नहीं है।

*

जितनी संसारमें सारपरिणति मानी जाय उतनी ही आत्मज्ञानकी न्यूनता श्री तीर्थंकरने कही है।

*

श्री जिन द्वारा कहे गये सब पदार्थके भाव एक आत्माको प्रकट करनेके वास्ते हैं।

मोक्षमार्गमें प्रवृत्तिके लिए दो योग्य हैं;
एक आत्मज्ञानी और
दूसरा आत्मज्ञानीका आश्रयवानः
ऐसा श्री जिन भगवानने कहा है।

*

ज्ञानी पुरुषको सकाम भजने से आत्माको प्रतिबंध होता है और कई बार तो परमार्थ दृष्टि मिटकर संसारार्थ दृष्टि हो जाती है। ज्ञानीके प्रति ऐसी दृष्टि होने पर पुनः सुलभबोधिता पाना कठिन होता है।

*

ऐसे बाह्य आडंबरकी तनिक भी इच्छा न करना कि जिससे शुद्ध व्यवहार या परमार्थको हानि पहुँचे।

जब तक सब प्रकारके नियम स्थानकोंमें समवृत्ति न हो तब तक यथार्थ आत्मज्ञान नहीं कहा जा सकता।

*

ज्ञानी पुरुषके वचनका जिसे दृढ़ आश्रय हो उसे सब साधन सुलभ हो जाय, ऐसा अखंड निश्चय सत्पुरुषोंने किया है।

*

जिस प्रारब्धको भोगे बिना और कोइ उपाय नहीं है, वह प्रारब्ध ज्ञानीको भी भोगना पड़ता है। ज्ञानी अंत तक आत्मार्थको त्यजना नहीं चाहता, यही फर्क ज्ञानीमें होता है।

असार व क्लेशरूप आरंभ-परिग्रहके कार्यमें रहते हुए यदि यह जीव जरा भी निर्भय या अजागृत रहे तो बहुत वर्षोंका उपार्जित वैराग्य भी निष्फल हो जाय, ऐसी दशा हो आती है।

इस बातको हर कार्य, हर क्षण और हर प्रसंगमें लक्ष्यमें रखे बिना मुमुक्षु जीवकी मुमुक्षुता रहनी दुर्लभ है; और ऐसी दशाका वेदन किये बिना मुमुक्षुताका भी संभव नहीं है।

बाह्य परिचयको सोच सोच कर निवृत्त करना यह छूटनेका एक मार्ग है, जीव जितना इस बातको सोचेगा उतना ही ज्ञानीपुरुषके मार्गको समझनेका समय समीप प्राप्त होगा।

*

समस्त संसार मृत्यु आदि भयसे अशरण है, वह शरणका हेतु हो ऐसी कल्पना करना केवल मृगजल जैसा है। विचार कर कर के श्रीतीर्थंकर जैसोंने भी उससे निवृत्त होना, छूटना यही उपाय खोजा है।

*

अन्य पदार्थका जो कुछ विचार करना है वह जीवके मोक्षके हेतु करना है, अन्य पदार्थके ज्ञानके लिए नहीं।

समस्त ज्ञानियोंने प्रेम-बंधन तथा द्वेष-बंधनको संसारका मुख्य कारण माना है। उसकी उलझनमें जीवको निज विचार करनेका अवकाश नही मिलता; अगर कदाचित् मिले तो उस योगमें उस बंधनके कारण आत्मवीर्य प्रवृत्ति नहीं कर सकता; और यही सब प्रमादका कारण है।

*

समस्त संसार दो प्रवाहोंसे बह रहा है-प्रेमसे और द्वेषसे। प्रेमसे विरक्त हुए बिना द्वेषसे छूटा नहीं जाता। प्रेमसे विरक्त पुरुषको, सर्व-संगसे विरक्त हुए बिना व्यवहारमें रहकर अप्रेम (उदास) दशा रखना, यह भयंकर व्रत है।

आत्माका अन्तर्व्यापार (अन्तर परिणामकी धारा) ही बंध और मोक्षकी (कर्मसे आत्माका बँधना और उससे आत्माका छूटना) व्यवस्थाका हेतु है, केवल शारीरिक चेष्टा बंध-मोक्षकी व्यवस्थाका हेतु नहीं।

*

सब क्लेश और सब दुःखोंसे मुक्त होनेका एक आत्मज्ञानको छोड़ दूसरा कोई उपाय नहीं है, विना सद्विचारके आत्मज्ञान नहीं होता और असत्संगके प्रसंगसे जीवका विचारबल स्थगित हो जाता है इसमें जरा भी संशय नहीं।

आत्म-परिणामकी स्वस्थताको श्री तीर्थंकर 'समाधि' कहते है।

आत्म-परिणामकी अस्वस्थताको श्री तीर्थंकर 'असमाधि' कहते हैं।

आत्म-परिणामकी सहज-स्वरूपसे परिणति हो, उसे श्री तीर्थंकर 'धर्म' कहते है।

आत्म-परिणामकी कोई भी चंचल परिणति हो उसे श्री तीर्थंकर 'कर्म' कहते है।

किसी भी जीवको ।विनाशी देहकी प्राप्ति हुई हो,
ऐसा देखा नहीं, जाना नहीं, तथा सम्भवित भी नहीं है,
और मृत्युका आना तो अवश्य है,
ऐसा प्रत्यक्ष नि सशय अनुभव है,
फिर भी यह जीव उस बातको पुन पुन भूल जाता है,
यह बड़ा आश्चर्य है।

*

जिस सर्वज्ञ वीतरागमें अनत सिद्धियाँ प्रकट हुई थीं,
उस वीतरागने भी इस देहको अनित्य-भावी देखा है,
तो फिर अन्य जीव किस प्रयोगसे देहको नित्य
(अविनाशी) कर सकेंगे?

आरंभ-परिग्रहको अल्प करनेसे अ-सत्प्रसंग का बल कम होता है;
सत्संगके आश्रयसे असत्संगका बल घटता है;
अ-सत्संगका बल घटनेसे आत्मविचार करनेका अवकाश मिलता है;

आत्मविचार होनेसे आत्मज्ञान होता है;
और आत्मज्ञानसे निजस्वभावस्वरूप, सब क्लेशो और सब दुःखोंसे मुक्त ऐसा मोक्ष होता है, यह बात बिलकुल सच है।

जो जीव मोहनिद्रामें सोये हुए हैं वे अ-मुनि हैं, मुनि तो निरंतर आत्मविचारसे जागृत रहते हैं। प्रमादीको सर्वथा भय है, अप्रमादीको किसी तरह भय नहीं है।

*

सब पदार्थोंका स्वरूप जाननेका हेतु एक मात्र आत्मज्ञान प्राप्त करना ही है। अगर आत्मज्ञान नहीं हुआ तो सब पदार्थोंका ज्ञान निष्फल है।

*

अन्य परिणाममें (जीवकी) जितनी तादात्म्यवृत्ति है, उतना ही मोक्ष दूर है।

अगर कोई आत्मयोग बन सका तो इस मनुष्य-देह-धारणका मूल्य किसी तरह भी नहीं हो सकता।

*

श्री जिन भगवान जैसे जन्म-त्यागी भी जिसे छोड़कर चल दिये ऐसे भयके हेतुरूप उपाधियोगकी निवृत्ति करते करते यदि यह पामर जीव काल व्यतीत करेगा तो अश्रेय होगा।

*

आत्मपरिणामसे जितना अन्य पदार्थका तादात्म्य-अध्यास छोड़ा जाय उसे श्री जिन भगवानने त्याग कहा है।

ज्ञानी पुरुषके चरणोंमें मन स्थापित किये बिना भक्तिमार्ग सिद्ध नहीं होता।

ज्ञानी पुरुषके चरणोंमें मन लगना पहले तो कठिन लगता है, परंतु वचनकी अपूर्वतासे, उस वचन पर विचार करनेसे, तथा ज्ञानीके प्रति अपूर्व दृष्टिसे देखनेसे, मनका स्थापित होना सुलभ बनता है।

उपाधि की जाय, फिर भी केवल असंग दशा बनी रहे, यह होना अति-कठिन है; और उपाधि करते हुए आत्मपरिणाम चञ्चल न हो, यह बनना असम्भवित-सा है।

*

जन्म, जरा, मरण आदि दुखोंसे समस्त संसार अशरण है। जिसने सब तरहसे उस संसारकी आस्था छोड़ी है, उसीने आत्मस्वभावको पाया है और (वही) निर्भय हुआ है।

*

जैसा निज स्वरूप है वैसा संपूर्ण प्रकाशित हो वहाँ तक निज स्वरूपके निदिध्यासनमें स्थिर रहनेके लिए ज्ञानीपुरुषके वचन आधारभूत है।

जिस तरह शरीरसे वस्त्र अलग है, वैसे ही आत्मासे शरीर अलग है, ऐसा जिन पुरुषोंने देखा है वे पुरुष धन्य हैं।

*

दूसरेकी वस्तु अपनेसे ग्रहण हो गई हो, और जब यह मालूम हो कि वह दूसरेकी है, तब उसे दे देनेका ही काम महापुरुष करते हैं।

*

जगतके सब पदार्थोंकी अपेक्षा जिस पर सर्वोत्तम प्रीति है, ऐसी यह देह भी जब दुःखका हेतु है, तो फिर अन्य पदार्थमें सुखके हेतुकी क्या कल्पना करना?

जो देह पूर्ण यौवनमय और संपूर्ण आरोग्यमय दीखने पर भी क्षणभंगुर है, उस देहमें प्रीति करके क्या करें ?

*

विषयादि इच्छित पदार्थोंको भोगकर उनसे निवृत्त होनेकी इच्छा रखना और उस क्रमसे चलनेसे बादमें वह विषयमूर्छा उत्पन्न न हो, ऐसा होना कठिन है, क्योंकि बिना ज्ञानदशाके विषयका निर्मूलन होना असंभव है।

*

जिनकी ज्ञानदशा है ऐसे पुरुष विषयकी आकांक्षासे या विषयका अनुभव करके उससे विरक्त होनेकी इच्छासे उसमें प्रवृत्ति नहीं करते; और यदि ऐसा करने जायँ तो ज्ञानको भी आवरण आना संभव है।

आत्मा अत्यंत सहज स्वस्थता पाये यही सर्व ज्ञानका सार है, ऐसा श्री सर्वज्ञ भगवानने कहा है।

*

सबसे अधिक स्नेह जिस पर रहा करता है ऐसी यह देह, रोग-जरा आदिसे स्वात्माको ही दुःखरूप हो जाती है, तो फिर उससे दूर ऐसे धनादिसे जीवको यथायोग्य सुखवृत्ति होगी ऐसा माननेमें विचारवानकी बुद्धिको अवश्य क्षोभ होना चाहिए और उसे किसी दूसरे विचारकी ओर जाना चाहिए।

*

ज्ञानी पुरुषको जो सुख रहा करता है, वह निज-स्वभावमें स्थितिका रहता है। बाह्यपदार्थोंमें उसे सुखबुद्धि नहीं है इसलिए उन सब पदार्थोंसे ज्ञानीको सुखदुःखादिकी विशेषता या न्यूनता नहीं कही जा सकती।

यह कोई नियम नहीं है कि ज्ञानी निर्धन हो या धनवान हो; या अज्ञानी निर्धन हो या धनवान हो।

*

पूर्वनिष्पन्न शुभअशुभ कर्मके अनुसार दोनोंको उदय रहता है। ज्ञानी उदयमें सम रहता है, अज्ञानीको हर्ष-विषाद होता है।

*

विचारवानको देह छूटनेकी बावत हर्ष-विषाद करना उचित नहीं। आत्मपरिणामकी विभाव दशा ही हानि और वही मुख्य मरण है। स्वभावसन्मुखता तथा उसकी दृढ इच्छा भी उस हर्ष-विषादको दूर करती है।

सहज स्वरूपमें जीवकी स्थिति हो उसे श्री वीतराग 'मोक्ष' कहते हैं।

*

सर्वभावसे असंगता होना, यह सब साधनमें दुष्कर से दुष्कर साधन है, और उसका निराश्रयतासे सिद्ध होना अत्यंत दुष्कर है—यह विचारकर श्री तीर्थंकरने सत्संगको उसका आधार कहा है कि जिस सत्संगके योगसे जीवको ऐसी सहज स्वरूपभूत असंगता उत्पन्न होती है।

अवश्य ही इस जीवको प्रथम सब साधनोंको गौण मानकर, निर्वाणके मुख्य हेतुरूप ऐसे सत्संगकी ही सर्वार्पणभावसे उपासना करना योग्य है कि जिससे सब साधन सुलभ हो जाते है—ऐसा हमारा आत्मसाक्षात्कार है।

सत्संगके प्राप्त होने पर यदि इस जीवको कल्याणकी प्राप्ति न हुई तो अवश्य इस जीवका ही दोष है, क्योंकि सत्संगके अपूर्व, अलभ्य, अतिदुर्लभ ऐसे इस योगमें भी उसने, सत्संगके योगको बाधक ऐसे बुरे कारणोंका त्याग न किया।

*

यदि आत्मबल सत्संगसे प्राप्त हुए बोधका अनुसरण न करे, उसका आचरण न करे, आचरणमें होनेवाले प्रमादको छोड़े नहीं, तो कभी भी जीवका कल्याण नहीं होगा।

अपने दोषोंको प्रतिक्षण, प्रत्येक कार्यमें और प्रत्येक प्रसंगमें तीक्ष्ण उपयोगपूर्वक देखना और देखकर उनका क्षय करना।

*

सत्संगके लिए यदि देहत्याग करनेका अवसर आता हो तो उसका भी स्वीकार करना, परंतु उससे किसी पदार्थमें विशेष भक्ति-स्नेह होने देना योग्य नहीं।

*

सत्संगकी अर्थात् सत्पुरुषकी पहचान होने पर भी यदि वह योग निरंतर न रहता हो तो सत्संगसे प्राप्त हुए उपदेशको प्रत्यक्ष सत्पुरुषसम मानकर उसका विचार तथा आराधन करना कि जिस आराधनासे जीवको अपूर्व ऐसा सम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

जीवको सबसे मुख्य और सबसे अवश्य ऐसा निश्चय रखना चाहिए कि मुझे जो कुछ करना है, वह आत्माके कल्याणरूप हो उसे ही करना है।

*

मिथ्या प्रवृत्तिमें तादात्म्य न हो, यह ज्ञानका लक्षण है, और नित्य-प्रति मिथ्या प्रवृत्ति परिक्षीण होती रहे यही सत्यज्ञानकी प्रतीतिका फल है।

*

सत्समागम और सत्शास्त्रका लाभ चाहनेवाले मुमुक्षु-ओंको आरम्भ-परिग्रह और रस-स्वादादिका प्रतिबंध संक्षिप्त करना उचित है।

जब तक अपने दोष विचार कर उन्हें कम करनेकी प्रवृत्ति न कर सके तब तक सद्गुरुके कहे हुए मार्गका परिणाम पाना कठिन है। इस बात पर मुमुक्षु जीवोंको खास विचार करना योग्य है।

*

सर्व प्रतिबंधोंसे मुक्त हुए बिना सर्व दुःखोंसे मुक्त होना संभव नहीं।

*

समस्त विश्व बहुत करके परकथा तथा परवृत्तिमें बहा करता है उसमें रह कर स्थिरता कैसे प्राप्त हो ?

निमित्तसे जिसे हर्ष होता है,
निमित्तसे जिसे शोक होता है,
निमित्त पाकर जिसे इन्द्रियजन्य विषयोंकी ओर आकर्षण होता है,
निमित्त पाकर जिसे इन्द्रियोंके प्रतिकूल प्रकारोंमे द्वेष होता है,
निमित्त पाकर जिसे उत्कर्ष आता है,
निमित्त पाकर जिसे कषाय उत्पन्न होते हैं,
ऐसे जीवको यथाशक्ति उन सब निमित्तवासी जीवोंका सग त्यजना चाहिए और नित्यप्रति सत्सग करना उचित है।

सब जीवोंको अप्रिय होने पर भी जिस दुःखका अनुभव करना पड़ता है वह दुःख सकारण होना चाहिए, इस भूमिकासे विचारवानकी विचारश्रेणी मुख्यतया उदित होती है और उस परसे क्रमशः आत्मा, कर्म, परलोक, मोक्ष आदि भावोंका स्वरूप सिद्ध हुआ हो, ऐसा लगता है।

*

ज्यों ज्यों चित्तकी शुद्धि और स्थिरता होती जाती है त्यों त्यों ज्ञानीके वचनोंका विचार यथायोग्य हो सकता है।

*

समस्त ज्ञानका फल भी आत्मस्थिरता होना ही है, ऐसा वीतराग पुरुषोंने कहा है।

गया हुआ एक क्षण भी वापस नहीं आता, और वह अमूल्य है, तो फिर समस्त आयुष्य-स्थिति की तो बात ही क्या ?

*

आत्मस्वरूपको जैसा है वैसा ही जाना, उसका नाम है समझना, इसमें अन्य विकल्परहित उपयोग हुआ इसका नाम शमन है, वस्तुत दोनों एक ही हैं।

*

जो जो समझे उन्होंने मेरा-तेरा आदि अहंता-ममताका शमन किया, क्योंकि कोईभी निज-स्वभाव वैसा देखा नहीं। और निज-स्वभाव तो अचिंत्य, अव्याबाधस्वरूप, केवल न्यारा ही देखा इसलिए उसीमें समा गये।

मुमुक्षु जीवको आत्महेतुभूत संगके सिवाय सब प्रकारके संगको कम करना चाहिए क्योंकि इसके बिना परमार्थका प्रकट होना कठिन है।

*

संयोग (संबंध) समस्त दुःखोंका मूल है, यों ज्ञानी तीर्थंकरोंने कहा है तथा समस्त ज्ञानी पुरुषोंने देखा है।

*

आत्माको समझनेके लिए शास्त्र उपकारी हैं और वे स्वच्छंदरहित पुरुषोंके लिए ही। यह लक्ष्यमें रखकर सत्शास्त्रोंका विचार किया जाय तो उसे 'शास्त्रीय अभिनिवेष' मानना योग्य नहीं है।

जो चक्रवर्ती आदि पद उत्कृष्ट सम्पत्तिके स्थान हैं, उन सबको अनित्य देखकर विचारवान पुरुष उन्हें छोड़कर चल पड़े हैं,

अथवा प्रारब्धके उदयसे उनमें रहना हुआ तो भी उसे प्रारब्धोदय समझकर अमूर्छित और उदास भावसे रहे हैं और त्यागका लक्ष्य रखा है।

सव प्रकारके भयके रहनेके स्थानरूप इस संसारमें केवल एक वैराग्य ही अभय है।

*

स्वस्वरूपमे स्थितिको 'परमार्थ सयम' कहा है; और उस संयमके कारणभूत ऐसे अन्य निमित्तोंके ग्रहणको 'व्यवहार संयम' कहा है।

*

असंग ऐसा आत्मस्वरूप सत्संगके योगमें सबसे सुलभ रीतिसे मालूम होने योग्य है इसमें संशय नहीं।

जितनी अपनी शक्ति हो उस सब शक्तिसे एक लक्ष्य रखकर, लौकिक अभिनिवेशको कम कर, 'कुछ भी अपूर्व आवरणरहितपना नहीं दीखता' इस लिए जीवको यह समझाकर कि 'यह तो केवल समझका अभिमान है,' जिस प्रकारसे ज्ञान, दर्शन और चारित्रमें जीव सतत जागृत रहे वही करनेमें वृत्तिको जोड़ना और रात-दिन उसी चिन्तनमें रहना यही विचारवान जीवका कर्तव्य है।

जब तक जीवको तथारूप आत्मज्ञान प्राप्त नहीं होता तब तक बंधनकी आत्यंतिक निवृत्ति नहीं होती, इसमें संशय नहीं।

*

उस आत्मज्ञानकी प्राप्ति होने तक जीवको मूर्तिमान आत्मज्ञान-स्वरूप ऐसे सद्‌गुरुदेवका निरंतर आश्रय खास करने योग्य है इसमें संशय नही है। उस आश्रयका वियोग हो तब तक आश्रय भावना नित्य करने योग्य है।

*

सब कार्योंमें कर्तव्य केवल आत्मार्थ ही है, मुमुक्षु जीवको ऐसी संभावना नित्य करना योग्य है।

सुख और आनंद सब प्राणियों, सब जीवों, सब सत्वों और सब जंतुओंको निरंतर प्रिय हैं फिर भी वे दुःख और क्लेश भोगते हैं, इसका क्या कारण होना चाहिए?

अज्ञान और उसके द्वारा जिन्दगीका हीन उपयोग। (इस) हीन उपयोगको रोकनेकी हरेक प्राणीकी इच्छा होनी चाहिए।

*

जिसमें क्षणभरमें हर्ष और क्षणभरमें शोक हो ऐसे इस व्यवहारमें जो ज्ञानीपुरुष समदशामें रहते हैं उन्हें अत्यंत भक्तिपूर्वक धन्य कहते हैं।

इस जीवको देहका संबंध होकर यदि मृत्यु न होती तो इस संसारके सिवाय अन्यत्र उसकी वृत्तिको लगानेका विचार न होता।

*

दुर्लभ ऐसी मनुष्यदेह भी पूर्वकालमें अनंत वार प्राप्त हुई फिर भी कुछ भी सफलता नहीं हुई।

*

इस मनुष्यदेहकी सार्थकता है कि जिस मनुष्य-देहसे इस जीवने ज्ञानी पुरुषको पहचाना तथा उस महाभाग्यका आश्रय लिया कि जिस पुरुषके आश्रयसे अनेक प्रकारके मिथ्या आग्रह आदि मंद हुए; उस पुरुष के आश्रयमें यह देह छूट जाय यही सार्थक है।

जिसमें जन्म-जरा-मरण आदिको नष्ट करनेवाला आत्मज्ञान विद्यमान है उस पुरुषका आश्रय ही जीवको जन्म-जरा-मरण आदिका नाश कर सकता है क्योंकि वही यथासम्भव उपाय है।

*

जिस आश्रयको पाकर जीव इसी जन्म या भावी अल्प कालमें भी निजस्वरूपमें स्थिति कर सके उसी आश्रयपूर्वक देह छूटे, वही जन्म सार्थक है।

*

श्री सद्गुरुने कहा है ऐसे निर्ग्रन्थ मार्गका सदा ही आश्रय रहे।

मैं देहादि स्वरूप नहीं हूँ और देह, स्त्री, पुत्र आदि कोई भी मेरा नहीं है, मैं शुद्ध चैतन्य-स्वरूप अविनाशी ऐसा आत्मा हूँ-इस प्रकार आत्मभावना करते करते राग-द्वेषका क्षय होता है।

जिसकी मृत्युसे मैत्री हो अथवा जो मृत्युसे छूटकर भाग जा सकता हो अथवा मैं मरूँगा ही नहीं ऐसा जिसका निश्चय हो, वह भले ही सुखसे सोए।

*

विचारवान पुरुष तो कैवल्यदशा प्राप्त होने तक मृत्युको सदा समीप समझकर प्रवृत्ति करते हैं।

*

लोक-समुदाय कोई भला होनेवाला नहीं है, अथवा स्तुति-निंदाके प्रयत्नके लिए विचारवानको इस देहकी प्रवृत्ति कर्तव्य नहीं है।

लौकिक दृष्टि और अलौकिक (लोकोत्तर) दृष्टिमें महान भेद है अथवा दोनों दृष्टियाँ परस्पर विरुद्ध स्वभाववाली हैं।

लौकिक दृष्टिमें व्यवहार (सांसारिक कारण)की मुख्यता होती है और अलौकिक दृष्टिमें परमार्थकी मुख्यता है। इसलिए अलौकिक दृष्टिको लौकिक दृष्टिके फलके साथ प्राय (बहुत करके) मिला देना योग्य नहीं।

अंतर्मुखवृत्ति रहित बाह्य क्रियाके विधि–निषेधमें कुछ भी वास्तविक कल्याण नहीं है। गच्छादि भेदोंको निभानेमें, विविध प्रकारके विकल्पोंको सिद्ध करनेमें आत्माको आवरण करने बराबर है।

*

अनेकांतिक मार्ग भी सम्यक् एकान्त ऐसे निजपदकी प्राप्ति करानेके सिवाय और किसी हेतुसे उपकारक नहीं है।

जैन और दूसरे सब मार्गाम (सम्प्रदायोंमें) प्राय मनुष्य देहका विशेष माहात्म्य बताया है, यानी मोक्ष-साधनका कारणरूप होनेसे उसे चिन्तामणि समान कहा है, यह सत्य है।

परतु यदि उससे मोक्षकी साधना की हो, तभी उसका यह महात्म्य है, वरना वास्तविक दृष्टिसे उसकी कीमत पशुके देह जितनी भी नहीं दीखती।

*

सत्पुरुषकी आज्ञामें चलनेका जिसका दृढ निश्चय रहता है और जो उस निश्चयकी आराधना करता है, उसे ही ज्ञान सम्यक्परिणामी होता है, यह बात आत्मार्थी जीवको खास लक्षमें रखने योग्य है।

देहके लिए अनंतबार आत्माको गलाया है। जो देह आत्माके लिए गलायी जायगी, उस देहसे आत्म-विचार जन्म लेने योग्य है ऐसा मानकर, सब देहार्थोंकी कल्पना छोडकर, एक मात्र आत्मार्थमें उसका उपयोग करना है, ऐसा निश्चय मुमुक्षु जीवको अवश्य करना चाहिए।

*

जो ज्ञान महानिर्जराका हेतु होता है, वह ज्ञान अनधिकारी जीवके हाथमें जानेसे प्रायः उसे अहितकारी होकर फलता है।

*

परिग्रह आदिकी प्राप्तिके काम ऐसे हैं कि वे प्रायः आत्मकल्याणका अवसर ही प्राप्त नहीं होने देते।

जब तक यह जीव लोकदृष्टिका त्याग न करे, और उसमेंसे अन्तर्वृत्ति छूट न जाय तब तक ज्ञानीकी दृष्टिका वास्तविक माहात्म्य लक्षमें नहीं आ सकता इसमें संशय नहीं।

*

ज्ञानियोंने मनुष्यभवको चिंतामणि रत्नके समान कहा है, इसका यदि विचार करो तो यह प्रत्यक्ष समझा जा सकता है।

*

देहार्थमें ही यदि यह मनुष्यभव व्यतीत हुआ तब तो एक फूटी कौड़ीकी कीमतका भी नहीं है, ऐसा निःसंदेह मालूम होता है।

मुमुक्षु जीव लौकिक कारणोंमें अधिक हर्ष-विषाद नहीं करता ।

*

आजीविका आदिकी प्राप्ति पूर्वके उपार्जित शुभ-अशुभ कर्मोंके अनुसार होगी ऐसा विचारकर मुमुक्षु जीवको मात्र निमित्तरूप प्रयत्न करना उचित है, परंतु भयाकुल होकर चिंता या न्यायका त्याग करना उचित नहीं, क्योंकि यह तो केवल व्यामोह है जो शमन करने योग्य है ।

*

प्राप्ति शुभ-अशुभ प्रारब्धके अनुसार होती है; प्रयत्न (पुरुषार्थ) व्यवहारिक निमित्त है इसलिए उसे करना उचित है; परंतु चिंता तो केवल आत्मगुण-रोधक है।

लौकिक दृष्टिमें जो जो बातें या वस्तुएँ बड़प्पनकी मानी जाती हैं वे सब बात या वस्तुएँ—शोभायुक्त गृह आदिका आरंभ, अलंकार आदिका परिग्रह, लोकदृष्टिकी विचक्षणता, लोकमान्य धर्मश्रद्धालुता—प्रत्यक्ष जहरका ग्रहण है ऐसा यथार्थ समझे बिना, मानते हो उस वृत्तिका लक्ष्य नहीं होता। आरंभमें उन बातों और वस्तुओंके प्रति जहर-दृष्टि आना कठिन समझकर कायर न होते हुए पुरुषार्थ करना उचित है।

विषमभावके निमित्तोंके बलवानरूपसे प्राप्त होने पर भी जो ज्ञानीपुरुष अविषम उपयोगसे रहे हैं, रहते हैं और भविष्यमें रहेंगे उन सबको वारम्वार नमस्कार है।

*

यदि सफलताका मार्ग समझमें आ जाय तो इस मनुष्य देहका एक समय भी सर्वोत्कृष्ट चिंतामणि है, इसमें संशय नहीं।

*

राग-द्वेषके प्रत्यक्ष बलवान निमित्तोंके प्राप्त होने पर भी जिसका आत्मभाव किंचित् भी क्षोभ नहीं पाता, उस ज्ञानीके ज्ञानका विचार करनेसे भी महानिर्जरा होती है, इसमें संशय नहीं।

क्रोध प्रत्ये तो वर्त्त क्रोधस्वभावता,
मान प्रत्ये तो दीनपणानु मान जो,
माया प्रत्ये माया साक्षीभावनी,
लोभ प्रत्ये नहीं लोभ समान जो
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ?

क्रोधके प्रति हमारा शुद्ध भाव रहे, मानके प्रति दीनता-सरलताका मान रहे, मायाके प्रति हमारी साक्षीभावरूपी माया बनी रहे, परन्तु हम लोभके प्रति लोभ समान न बनें। ऐसा अपूर्व अवसर हमको कब प्राप्त होगा ?

'ज्ञानका फल विरति है.' वीतरागका यह वचन सब मुमुक्षुओंको नित्य स्मरणमें रखने योग्य है।

*

जिस पढ़नेसे, समझनेसे और विचारनेसे आत्मा विभावसे, विभावके कार्योंसे और विभावके परिणामोंसे उदासीन न हुआ, विभावका त्यागी न हुआ, विभावके कार्योंका और विभावके फलका त्यागी न हुआ, वह पढ़ना, वह समझना और वह विचारना अज्ञान है।

विचारवृत्तिके साथ त्यागवृत्तिको उत्पन्न करना यही विचार सफल है–यह कहनेका ही ज्ञानीका परमार्थ है।

एकाकी विचरतो वळी स्मशानमा,
वळी पर्वतमा वाघ सिंह संयोग जो,
अडोल आसन, ने मनमा नहीं क्षोभता,
परम मित्रनो जाणे पाम्या योग जो
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ?

स्मशानमें अकेले भ्रमण करते हुए, और पर्वतोंमें बाघ तथा सिंहका मिलाप होने पर अडोल-स्थिर आसनसे रहूँ और मनमें क्षोभ न होकर ऐसा भाव जागे कि मुझे किसी परम मित्रका समागम हुआ है, ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ?

जहाँ उपाय नहीं, वहाँ खेद करना योग्य नहीं है।

*

इस जगतमें प्राणीमात्रकी व्यक्त या अव्यक्त इच्छा भी यही होती है कि मुझे किसी तरह दुःख न हो और सर्वथा सुख हो। प्रयत्न भी इसीके लिए है फिर भी वह दुःख क्यों नहीं मिटता?

*

सतत अंतर्मुख उपयोगमें स्थिति यही निर्ग्रंथका परम धर्म है।

परमयोगी ऐसे श्री ऋषभदेव-आदि पुरुष भी जिस देहको न रख सके, उस देहकी एक विशेषता यही रही है कि जब तक उसका सबंध रहे, उस समय तक जीव असग और निर्मोह बन कर अबाध्य अनुभव-स्वरूप ऐसा निजस्वरूप जानकर अन्य सब भावों से अलग हो जाय, ताकि फिरसे जन्म-मरणका फेरा न रहे।

इस देह द्वारा करने योग्य कार्य तो एक ही है कि किसीके प्रति राग या किसीके प्रति किंचित् भी द्वेष न रहे–सर्वत्र समदशा रहे; यही कल्याण का मुख्य निश्चय है।

*

जो कोई सच्चे अंतःकरणसे सत्पुरुषके वचनोंको ग्रहण करेगा वह सत्यको पाएगा इसमें कोई संशय नहीं; और शरीरका निर्वाह आदि व्यवहार सबके अपने अपने प्रारब्धके अनुसार ही प्राप्त होना योग्य है, इसलिए इस विषयमें भी कोई विकल्प रखना योग्य नहीं।

जो अनित्य है, जो असार है और जो अशरण-रूप है वह इस जीवको प्रीतिका कारण क्या होता है? यह बात दिन-रात सोचने योग्य है।

*

लोकदृष्टि और ज्ञानीकी दृष्टिमें पश्चिम-पूर्व जितना अंतर है। ज्ञानीकी दृष्टि प्रथम तो निरालंबन होती है, वह रुचिको उत्पन्न नहीं करती, और जीवकी प्रकृतिसे मिलती नहीं आती, इसलिए जीव उस दृष्टिमें रुचिवाला नहीं होता। परन्तु जिन जीवोंने परिषहको सहन करके थोड़े समय तक भी उस दृष्टिका आराधन किया है उन्होंने सब दुःखोंके क्षयरूप निर्वाणको पाया है-उसका उपाय पाया है।

जिसने संसारके स्वरूपको स्पष्टरूपसे जाना है उसे इस संसारके पदार्थकी प्राप्ति या अप्राप्ति होने पर हर्ष या शोक होना योग्य नहीं।

*

जिसे आरंभ-परिग्रह पर विशेष वृत्ति रहती है उस जीवमें सत्पुरुषके वचनोका या सत्शास्त्रका परिणमन होना कठिन है।

*

जैसे जैसे जगतके सुखकी स्पृहामें खेद उत्पन्न होता है, वैसे वैसे ज्ञानीका मार्ग स्पष्ट सिद्ध होता है।

सत्पुरुषोंका केवल अंतर्मुख होनेका मार्ग ही सर्व दुःखोंके क्षयका उपाय है परन्तु वह किसी किसी जीवकी ही समझमें आता है।

महान पुण्यके योगसे, विशुद्ध मतिसे, तीव्र वैराग्यसे और सत्पुरुषके समागमसे वह उपाय समझने योग्य है।

उसके समझनेका अवसर केवल यह मनुष्य देह है, और वह भी अनियमित कालके भयसे ग्रस्त है, उसमें प्रमाद होता है यही खेद और आश्चर्य है।

सत्समागम, सत्शास्त्र और सदाचारमें दृढ़ निवास, ये आत्मदशा होनेके बलवान अवलंबन हैं। सत्समागमका योग होना दुर्लभ है तथापि मुमुक्षु जीवको उस योगकी तीव्र जिज्ञासा रखना और उसको प्राप्त करना योग्य है। उस योगके अभावमें तो जीवको अवश्य ही सत्शास्त्ररूप विचारका अवलंबन करके सदाचारकी जागृति रखना योग्य है।

*

परिणाम तो जिसका अमृत ही है, परंतु प्रारंभिक दशामें जो कालकूट विषकी तरह व्याकुल कर देता है, ऐसे श्री संयमको नमस्कार हो।

जिस समय विषय-कषाय आदि विशेष विकार उत्पन्न करके जायँ, उस समय विचारवानको अपनी निर्बलता देखकर अत्यंत खेद होता है और वह अपनी (आत्माकी) बारम्बार निंदा करता है। वह पुन अपनेको तिरस्कारकी वृत्तिसे देखकर, फिरसे महान पुरुषोंके चरित्र और वाक्योंका आधार ग्रहण कर, आत्मामे शौर्य उत्पन्न कर, उन विषयादिके विरुद्ध अत्यन्त हठ करके उन्हें हटा न दे तब तक वह चैनसे नहीं बैठता, तथा सिर्फ खेद करके ही नहीं रुक जाता।

आत्मार्थी जीवोंने इसी वृत्तिका अवलबन लिया है और अतमे उन्होंने इसीसे जय पायी है। यह बात सब मुमुक्षुओंको मुखाग्र करके हृदयमे स्थिर करना योग्य है।

अबंधताके लिए अविषमभावके विना दूसरा कोई अधिकार हमको भी नहीं है।

*

जिस तरह मुमुक्षुता दृढ़ हो वैसा करो; हार जानेका या निराश होनेका कोई कारण नहीं है। जीवको जब दुर्लभ योग प्राप्त हुआ है तो फिर थोड़ा प्रमाद छोड़ देनेमें घबराने या निराश होने जैसा कुछ भी नहीं है।

*

बहुतसे शास्त्र और वाक्योंके अभ्यासकी अपेक्षा, अगर जीव ज्ञानी पुरुषोंकी एक एक आज्ञाकी उपासना करे तो अनेक शास्त्रोसे होनेवाला फल सहजमें ही प्राप्त हो।

दुषमकालका प्रबल राज्य चल रहा है, फिर भी अडग निश्चयसे सत्पुरुषकी आज्ञामें वृत्ति लगाकर जो पुरुष प्रकट वीर्यसे सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्रकी उपासना करना चाहते हैं, उन्हें परम शान्तिका मार्ग अब भी प्राप्त हो सकता है।

*

देहसे भिन्न स्व-पर-प्रकाशक परम ज्योति-स्वरूप ऐसे इस आत्मामें निमग्न होओ। हे आर्यजनो! अंतर्मुख होकर, स्थिर होकर उस आत्मामें ही रहो तो अनंत अपार आनन्दका अनुभव करोगे!

जिसे कुछ प्रिय नहीं, जिसे कुछ अप्रिय नहीं; जिसका कोई शत्रु नहीं, जिसका कोई मित्र नहीं; जो मान-अपमान, लाभ-अलाभ, हर्ष-शोक, जन्म-मृत्यु आदि द्वंद्वोंका अभाव करके शुद्ध चैतन्यस्वरूपमें स्थित हुए हैं, होते है और होंगे, उनका अति उत्कृष्ट पराक्रम सानंदाश्चर्य उत्पन्न करता है।

जैसा देहके साथ वस्त्रका सबध है, वैसा ही आत्माके साथ देहका सबध जिसने सही सही देखा है, म्यानके साथ जैसा तलवारका सबध है वैसा ही देहके साथ आत्माका सबध जिसने देखा है, अबद्ध–स्पष्ट आत्माका जिसने अनुभव किया है उस महापुरुषको जीवन और मरण दोनों समान हैं।

जिस अचिंत्य द्रव्यकी शुद्ध चैतन्य स्वरूप परम कान्ति प्रकट होकर उसे अचिंत्य करती है, वह अचिंत्य द्रव्य सहज स्वाभाविक निजस्वरूप है ऐसा निश्चय जिस परम-कृपालु सत्पुरुषने प्रकाशित किया है उसका अपार उपकार है।

*

अनंत कालसे जो ज्ञान संसारका कारण होता था उस ज्ञानको एक समयमात्रमें जात्यंतर करके संसारकी निवृत्तिरूप जिसने बनाया उस कल्याणमूर्ति सम्यग्-दर्शनको नमस्कार हो!

अज्ञानसे और स्व-स्वरूपके प्रति प्रमादसे आत्माको केवल मृत्युकी भ्रान्ति ही है।

उस भ्रान्तिको निवृत्त कर, शुद्ध चैतन्य निजअनुभव-प्रमाणस्वरूपमें परम जागृत होकर, ज्ञानी सदा निर्भय रहता है। इसी स्वरूपके लक्ष्यसे सब जीवोंके प्रति साम्यभाव उत्पन्न होता है।

*

जिसकी उत्पत्ति अन्य किसी भी द्रव्यसे नहीं होती, ऐसे उस आत्माका नाश भी कहाँसे हो?

श्रीमत् अनंत चतुष्टस्थित भगवंतका और उस जयवंत धर्मका सदैव आश्रय करना चाहिए।

जिसमें अन्य कोई सामर्थ्य नहीं है ऐसे अशक्त और अबुध मनुष्यने भी उस आश्रयके बलसे परम सुखके हेतु ऐसे अद्भुत फलको पाया है, पाता है और पाएगा। इसलिए निश्चय और आश्रय ही कर्तव्य है; अ-धीरजसे खेद कर्तव्य नहीं है।

मेरा चित्त, मेरी चित्तवृत्तियाँ इतनी शान्त हो जाओ कि कोई मृग भी इस शरीरको देखता ही रहे, भयभीत होकर भाग न जाय।

*

मेरी चित्तवृत्ति इतनी शान्त हो जाओ कि कोई वृद्ध मृग, जिसके सिरमें खुजली आ रही हो, इस शरीरको जड़ पदार्थ समझकर खुजली मिटानेके लिए अपना सिर इस शरीरसे घिसे।

*

हे जीव ! इस क्लेशरूप संसारसे निवृत्त हो, निवृत्त हो।

गृहवासका जिसे उदय रहता है, वह यदि किसी भी शुभध्यानकी प्राप्ति चाहता हो तो उसके मूल हेतुभूत ऐसे अमुक सदाचरणपूर्वक रहना योग्य है। उस अमुक नियममें 'न्याय संपन्न आजीविका आदि व्यवहार' इस पहले नियमको साध्य करना उचित है।

*

यदि तुम स्थिरता चाहते हो तो प्रिय या अप्रिय वस्तुमें न मोह करो, न राग करो, न द्वेष करो।

*

यह प्रवृत्ति-व्यवहार ऐसा है कि जिसमें वृत्तिको यथाशान्त रखना असंभव जैसा है।

अहो सत्पुरुषके वचनामृत, मुद्रा और सत्समागम! सुषुप्त चेतनाको जगानेवाले, पतित वृत्तिको स्थिर रखनेवाले, दर्शनमात्रसे भी निर्दोष, अपूर्व स्वभावके प्रेरक, स्वरूप प्रतीति, अप्रमत्त संयम, और पूर्ण वीतराग निर्विकल्प स्वभावके कारणभूत, और अन्तमें अयोगी स्वभावको प्रकट करके अनंत अव्याबाध स्वरूपमें स्थिति करानेवाले! त्रिकाल जयवन्त रहो!

ॐ शान्ति शान्ति शान्ति

अनंत अव्याबाध सुखका एक अनन्य उपाय स्वरूपस्थ होना ही है। यही हितकारी उपाय ज्ञानीने देखा है।

*

प्राणीमात्रका रक्षक, बान्धव और हितकारी ऐसा कोई उपाय हो तो वह वीतरागका धर्म ही है।

*

समस्त संसारी जीव कर्मवश साताअसाताके उदयका अनुभव करते ही रहते हैं; उसमें मुख्यतया तो असाताका ही उदय अनुभवमें आता है।

लौकिक मानको छोड़कर, वाग्जालको त्यजकर, कल्पित विधि-निषेधसे दूर रहकर जो जीव प्रत्यक्ष ज्ञानीकी आज्ञाका आराधन कर, तथारूप उपदेशको पाकर, तथारूप आत्मार्थमें प्रवृत्ति करता है उसका अवश्य कल्याण होता है।

*

विनय-भक्ति मुमुक्षुओंका धर्म है।

*

अनादि कालसे चचल ऐसे मनको स्थिर करना चाहिए। प्रथम वह अतीव विरोध करे इसमें कोइ आश्चर्य नहीं। उस मनको महात्माओंने क्रमश स्थिर किया है, शान्त किया है-लय किया है-यह सचमुच आश्चर्यकारक है।

साता-असाताका उदय या अनुभव प्राप्त होनेके मूल कारणोंकी खोजबीन करनेवाले महान पुरुषोंको ऐसी विलक्षण सानंद-आश्चर्यकारक वृत्तिका उद्भव होता था कि साताकी अपेक्षा असाताका उदय प्राप्त होने पर, यही नहीं, तीव्रतासे उस उदयके प्राप्त होने पर उनका वीर्य विशेष जागृत होता था-उल्लास पाता था, और उस समयको वे अधिकाधिक कल्याणकारी समझते थे।

यथार्थरूपसे देखें तो शरीर ही वेदनाकी मूर्ति है। हर समय जीव उसके द्वारा वेदनाका ही अनुभव करता है। क्वचित् साता और अधिकतर असाताका ही अनुभव करता है।

*

जो वेदना पूर्वकालमें सुदृढ बंधनसे जीवने बाँधी है, उस वेदनाके उदय प्राप्त होनेपर उसे इन्द्र, चन्द्र, नागेन्द्र या जिनेन्द्र भी रोकनेको समर्थ नहीं, उसका उदय जीवको वेदन करना ही चाहिए।

अज्ञान-दृष्टिके जीव उसका वेदन खेदसे करें, तो भी वह वेदना कुछ घटती नहीं, या टल जाती नहीं।

सत्य-दृष्टिके जीव शान्त-भावसे (उसका) वेदन करें, तो वह वेदना बढ़ नहीं जाती, फिर वह नवीन बंधका हेतु नहीं होती। इससे पूर्वकी बलवान निर्जरा होती है। आत्मार्थीको यही कर्तव्य है।

"मैं शरीर नहीं हूँ परन्तु उससे भिन्न ज्ञायक आत्मा हूँ, तथा नित्य-शाश्वत हूँ। यह वेदना केवल पूर्वकर्मकी है परंतु वह मेरा स्वरूप नाश करनेको समर्थ नहीं, अतः मुझे खेद नहीं करना चाहिए।" -आत्मार्थीका ऐसा अनुप्रेक्षण होता है।

चिंतित वस्तु जिससे प्राप्त होती है उस मणिको चिंतामणि कहा है, वही यह मनुष्यदेह है कि जिस देहमें-योगमें आत्यंतिक ऐसे सब दुःखोंका क्षय करनेका चिंतन किया तो वह पार पड़ता है।

*

जिसका माहात्म्य अचिंत्य है ऐसा सत्संगरूपी कल्पवृक्ष प्राप्त होने पर भी यदि जीव दरिद्र बना रहे, तो इस जगतमें यह ग्यारहवाँ आश्चर्य ही है।

*

उपशम ही जिस ज्ञानका मूल है उस ज्ञानमें तीक्ष्ण वेदना परम निर्जरा भासने योग्य है।

चक्रवर्तीकी समस्त संपत्तिसे भी जिसका एक समयमात्र भी अधिक मूल्यवान है ऐसे इस मनुष्यदेहको और परमार्थके अनुकूल ऐसे योगकी प्राप्ति हुई फिर भी यदि जन्म-मरणसे रहित ऐसे परमपदका ध्यान नहीं रहा तो इस मनुष्यत्वको अधिष्ठित ऐसे आत्माको अनन्तवार धिक्कार हो।

लोकसभा जिसकी जिंदगीका ध्रुवकाँटा है, वह जिंदगी चाहे कैसी श्रीमत्तता, सत्ता या कुटुंब-परिवार आदिके योगवाली हो तो भी वह दुःखका ही हेतु है। आत्म-शान्ति जिस जिंदगीका ध्रुवकाँटा है, वह जिंदगी चाहे एकाकी, निर्धन और निर्वस्त्र हो तो भी परम समाधिका स्थान है।

धर्ममें लौकिक बड़प्पन, मान, महत्त्व आदिकी इच्छा धर्मके द्रोहरूप है।

*

ज्ञानीका मार्ग सुलभ है परंतु उसे पाना दुर्लभ है; यह मार्ग विकट नहीं, सीधा है परंतु उसे पाना विकट है। पहले सच्चा ज्ञानी चाहिए, उसे पहचानना चाहिए, उसकी प्रतीति आनी चाहिए: फिर उसके वचन पर श्रद्धा रखकर निःसंशय हो चलनेसे मार्ग सुलभ है।

*

प्रारब्धको समपरिणामसे वेदन करना-भोग लेना-यह बड़ा पुरुषार्थ है।

सच्ची विद्वत्ता वह है जो आत्मार्थके लिए हो, जिससे आत्मार्थ सिद्ध हो, आत्मार्थ समझमें आवे, वह प्राप्त हो। जहाँ आत्मार्थ है वहाँ ज्ञान है परंतु वहाँ विद्वत्ता हो भी या न भी हो।

*

पुण्य, पाप और आयुष्य, कोई दूसरेको यह नहीं दे सकता, हरेक आप ही उसे भोगता है।

*

ज्ञान उसे कहते हैं जो हर्ष-शोकके समय हाजिर रहे, अर्थात् हर्ष-शोक न हों।

विचारवानको पुद्‌गलमें तन्मयता-तादात्म्य भाव-नहीं होता।

जिसे तन्मयता होती है उसे ही हर्ष-शोक होता है।

निमित्त जो है वह अपना कार्य किये बिना नहीं रहता।

*

जीव जब विभाव-परिणाममें प्रवृत्ति करता है तब कर्म बाँधता है और स्वभाव-परिणाममें प्रवृत्ति करता है तब कर्म नहीं बांधता।

*

(वृत्तिका) आत्मामें परिणमन होना, उसमें समा जाना, वही अन्तर्वृत्ति है। पदार्थकी तुच्छता लगी हो तो अन्त र्वृत्ति रहती है।

स्पष्ट प्रीतिसे संसार (सेवन) करनेकी इच्छा होती हो तो समझ लेना कि ज्ञानी पुरुषको देखा नहीं।

*

सांसारिक कामोंमें कर्मको याद न करना परंतु पुरुषार्थको ऊपर लाना-मुख्य करना। कर्मका विचार करनेसे वे जानेवाले नहीं, परन्तु धक्का दोगे तब वे जाएँगे, इस लिए पुरुषार्थ करना।

*

" ज्ञान " अर्थात् आत्माको यथातथ्य जानना।
" दर्शन " अर्थात् आत्माकी यथातथ्य प्रतीति।
" चारित्र " अर्थात् आत्माका स्थिर होना।

पुद्गल द्रव्यकी संभाल रखे तो भी वह कभी न कभी चला जायगा ही; और जो हमारा नहीं है वह हमारा होनेवाला नही है; इसलिए लाचार होकर दीन बनना किस कामका ?

*

तृष्णावाला मनुष्य सदा भिखारी;
सन्तोषी जीव सदा सुखी।

*

" मिथ्यात्व " अन्तर्ग्रंथी है;
" परिग्रह " बाह्यग्रंथी है।

बाह्य उपयोग तृष्णाकी वृद्धि होनेका कारण है। जीव बड़प्पन पानेको तृष्णा बढ़ाता है। उस बड़प्पनको रखकर मुक्त नहीं हो सकते।

*

प्रत्येक प्रसंगमें ममत्व न उत्पन्न होने देना, तब चिन्ता कल्पना मन्द होगी।

*

जीव 'मेरा' मानता है वही दुःख है क्योंकि 'मेरा' माना कि चिन्ता खड़ी हुई कि 'यह कैसे होगा?'

जिस द्रव्य, क्षेत्र, काल (और) भावसे सुख-दुःख उदयमें आनेवाला है उसमें इन्द्रादि भी परिवर्तन करनेमें समर्थ नहीं हैं।

*

शुभ कर्मके उदयके समय शत्रु मित्र बन जाता है और अशुभ कर्मके उदयके समय मित्र शत्रु बन जाता है। सुख-दुःखका सही कारण कर्म ही है।

*

दृष्टि विषके चले जाने पर कोई भी शास्त्र, कोई भी अक्षर, कोई भी कथन, कोई भी वचन, कोई भी स्थान प्रायः अहितका कारण नहीं होता।